मुनित्रय के सानिध्य में चातुर्मास की अवधि में श्रावक श्राविकाओं ने नवकार मंत्रजाप, शांति सप्ताह, पंचरंगियाँ, धर्म-चक्र, अठाइयों से लेकर प्रायः सभी प्रकार की छोट-मोटी तप-स्यायें उल्लास पूर्वक सम्पन्न हुई। बाल-वृद्ध सभी ने सामायिक, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, अध्ययन में सराहनीय उत्साह दिखाया। विविध धार्मिक पर्वों, कल्याणक, जयन्तियाँ आदि का आयोजन भी समय-समय पर किया गया। श्री अमरसिंहजी चौधरी की अध्यक्षता में श्री जैन दिवाकर पाठशाला के छात्र-छात्राओं को पुरस्कार एवम् अठाई के तपस्वियों को प्रभावना राजमलजी बापुलालजी की ओर से वितरित की गई। कार्यक्रम का संचालन श्री सागरमलजी जैन ने किया। श्री आनन्दीलालजी दुगड़ ने श्रीलाभमुनि पुस्तकालय एवम् शास्त्र भण्डार का उद्घाटन किया। श्री चांदमलजी मुरड़िया एवम् श्री हीरालालजी [मेहता के प्रयत्नों से साधर्मी फण्ड एवम् 'आदर्श श्रावक' प्रस्तुत पुस्तक हेतु दान-दाताओं ने उदारता पूर्वक दान दिया।

जिन मुनिराज के साहित्य सृजन गुण और जिनके द्वारा रचित एवम् सम्पादित जैन सद् साहित्य के पठन-पाठन का लाभ एक बड़ा समुदाय ले चुका है उन संतरत्न पं. उदयचन्दजी म. सा. ने अपना समय जहाँ बालयुवा वर्ग के जीवन में धार्मिक अंकुर पैदा करने में, व्याख्यान वाचन में, त्याग-प्रत्याख्यान में व्यय किया वहीं बहुउद्देशीय स्वजन हिताय लाभकारी साहित्य सृजनता के महता कार्य, जो कि आपका मौलिक गुण है, में विशेपरूप से खर्च किया। जिसके परिणाम स्वरूप श्री संघ एवम् विभिन्न दानदाता महानुभावों के अपूर्व सहयोग से प्रस्तुत पुस्तक 'आदर्श श्रावक' का प्रकाशन संभव हुआ। जो कि मानव जीवन के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण एवम् लाभकारी सिद्ध होगा।

इस पुस्तक को प्रकाशन का आकार देने में स्वर्गीय सेवा-भावी श्री मन्नालालजी म. तथा उदारमना दानदाताओं का आर्थिक सहयोग प्रदान करने के लिये मन्दसौर श्री संघ आभारी है। इसी के साथ पुस्तक के सफल सम्पादन के लिये श्री बसन्तीलालजी नलवाया एवं मास्टर सा. मणिलालजी जैन, प्रकाशन में विशेष सहयोगी श्री अभयजी भटेवरा. श्री मानमलजी जैन मास्टर सा. नारायणगढ़ श्री चांदमलजी सुरड़िया, श्री शांतिलाल सगरावत और सतीष वोहरा ने जो सहयोग दिया वह प्रशंसनीय है। श्री संघ सभी सहयोगियों का आभार मानता है।

उपाध्यक्ष

सज्जनलाल मेहता

श्री वर्धमान स्था. जैन श्रावक संघ (शहर) मन्दसौर

जीवन का प्रकाश-स्तम्भ

वीतराग सर्वज्ञ श्री तीर्थंकर प्रभु ने अपने अंतिम पुरुषार्थ यानी सम्पूर्ण स्वतन्त्रता (मोक्ष) प्राप्त करने के लिये जो मार्ग बताया है उसे हमें जानना है, मानना है और आचारण में लाना है। मोक्ष पथ का ज्ञान करके उसे मान्य करना और उसी का ध्यान करना समग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और समग्यचरित्र कहलाता है। सत्‌ज्ञान, सत्‌भाव और सत्‌कार ही मोक्ष का पथ है। महान् आचार्य देव उमास्वामी के मोक्ष शास्त्र का यही मंगल सूत्र है।

"सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः"

अब हमें यह विचार करना है कि क्या जानें? क्या मानें? और क्या आचरण करें? जिससे हमारा साध्य सिद्ध हो सके। क्योंकि आचरण के बिना मोक्ष मार्ग में प्रगति हो ही नहीं सकती।

"जिन खोजा तीन पाइया गहरे पानी पैठ"। मानव को यदि सत्य पाना है तो गहरा गोता लगाये बिना प्राप्त नहीं हो सकता। जो गहरा चिंतक होगा वही ठीक सत्य को पा सकता है। आज का युग समन्वयवादी है। वह सभी वस्तुओं को जानने की चेष्ठा करता है। ऐसी स्थिति में जीवन-लक्ष्य के वास्तविक रहस्य को जानने की लालसा किस प्राणी के मन में नहीं होगी! दुर्लभ मानव-जीवन को सार्थक करने के लिये प्रातः स्मरणीय, साहित्य रत्न, बाल ब्रह्मचारी, उपाध्याय श्री प्यारचन्दजी म. सा. द्वारा लिखित प्रस्तुत पुस्तक 'आदर्श–श्रावक' जिसका संयोजन जहां बहुमुखी प्रतिभा के धनी, जैन साहित्य और सिद्धान्तों के मर्मज्ञ, जैन सिद्धान्ताचार्य पं. उदयमुनिजी म. सा. ने किया वहीं न्याय–तीर्थ पं. वसन्तीलालजी नलवाया द्वारा किया गया इस पुस्तक का सम्पादन सोने में सुहागा कहावत को चरितार्थ करने वाला है।

प्रस्तुत पुस्तक 'आदर्श-श्रावक' जैन समाज के सदस्यों को अज्ञान रूपी अंधकार से निकालकर ज्ञान का प्रकाश तो देगी ही साथ ही आदर्श-जीवन जीने का व्यवहारिक ज्ञान करवाकर जीवन को सफलता की सीढ़ियां भी प्रदान करेगी। पुस्तक प्रेरणादायी होगी ऐसी पूर्ण आशा और दृढ़ विश्वास हैं। और इस भावना के पीछे बहुत बड़ा कारण छिपा है। प्रस्तुत पुस्तक की भाषा सरल है, विषय जीवन को छुने वाले और तनावपूर्ण जीवन में आने वाली कठिनाईयों से तत्काल उबारने वाले हैं। जीवन-ध्येय और ध्येय प्राप्ति के साधनों से लेकर श्रावक कौन ? और जीवन के प्रत्येक पहलु को बड़ी सुक्ष्मता से आकार देने में शास्त्रानुकूल बोधगम्यता के साथ ही मन को पूर्ण संतोष देने वाले हैं। प्रत्येक विषय का विवेचन पूरी तरह मन में पचने वाला है और बिना प्रयास के ही मन में अपना स्थान बनाने वाला है। जिससे वे व्यवहारिक जीवन में आकार ग्रहण करेंगे, ऐसी धारणा बनना अत्युक्ति नहीं। प्रस्तुत पुस्तक में वर्णित विषयों को समझने के लिये किसी अतिरिक्त बुद्धि कुशलता की आवश्यकता नहीं। इतना भर कह देना काफी है। विषयों के साथ जहां-तहां पं. उदयमुनिजी म. सा. जैन सिद्धान्ताचार्य के मुक्तक वर्णित विषयों को सबलता प्रदान कर रहे हैं।

अंत में इतना ही पर्याप्त होगा कि पुस्तक जैन समाज के सदस्यों के लिये ही नहीं वरन् प्रत्येक मानव के लिये सफल जीवन जीने की परम सहायक कुंजी सिद्ध होगी। जैन श्रावकों के लिये तो यह पुस्तक जीवन का प्रकाश स्तम्भ है ही।

सम्पर्क सूत्र- □ शांतिलाल खगरावत 'सत्येन्द्र'
६२, पाठक भवन एम. ए; बी. एड; साहित्य-विशारद
कम्बल केन्द्र रोड
नई आबादी, मन्दसौर (मध्य प्रदेश)

मैं तुम्हें शुभ धर्म की सजीव गीता कहूंगा-
रीतों को भर दें गुण सलील से तुम वह पूर्ति थे।

(४)

किसमें थी ऐसी अद्‌भुत गुरू भक्ति ?
किसमें थी ऐसी साहित्यानु रक्ति ?
जिसको भी छुआ, कंचन बनाकर ही छोड़ा-
किसमें थी ऐसी चारित्र धर्म की शक्ति ?

(५)

सच कहता हूं, तुम सरस्वती के वरद पुत्र थे।
सच कहता हूं, तुम संघ एकता के महा सूत्र थे।
तुम्हें मनुज कहूं तो शब्द छोटे लगते हैं-
सच कहता हूं, तुम इस युग में देवदूत थे।

(६)

नाज करेगा रतलाम नगर यह, तुम्हारे शुभ नाम पर।
नाज करेगा रतलाम नगर यह, तुम्हारे पुनीत काम पर।
सचमुच तुमने ही जन्म लेकर, इस मिट्टी का कर्ज चुकाया है-
नाज करेगा रतलाम नगर यह, उस सुनहरे सुबह शाम पर।

(७)

'प्राकृत व्याकरण टीका' रच, तुमने वाणी का कर्ज चुकाया है।
'जन जगत के उज्ज्वल तारों' से, तुमने जाति का कर्ज चुकाया।
तुम थे ऐसे उदार दानी, जिसने बस जीवन में देना जाना-
'जैन जगत की महिलाएं' लिख, तुमने माता का कर्ज चुकाया है।

(८)

काम वासना को कर जय, रहे तुम आजीवन ब्रह्मचारी।
शुभ भावों का कर चिंतन, बने तुम आजीवन सुविचारी।
रच सद् साहित्य सदा तुम, यश से रहे हो कोसों दूर-
सब ने देखी तुम में गुरूवर, त्याग तप की महिमा भारी।

(९)

गुरू की सेवा कैसे की जाती है, कोई तुमसे सीखे।
उपदेशों में निर्भिक बने रहना, कोई तुमसे सीखे।
मिटा फूट सब सन्तों को, एक सूत्र में पिरो दिया—
वृद्धकाल में कन्नड़ सीखी, विद्या प्रेम कोई तुमसे सीखे।

(१०)

जिसने किये हों कर्म क्षय, उसे संथारा मरण मिलना है।
जिसने बांधे हो कर्म चीकने, वह अन्त समय डरता है।
पण्डित मरण तो केवल, सिंह सपूत ही पाते हैं—
जिसने किये हों कर्मशुभ, जग उसकी जय-जय करता है।

(११)

इन चरणों का स्पर्श पा, कई प्रदेश धन्य हो गये।
इन चरणों का स्पर्श पा, कई दनुज मनुज हो गये।
'प्यार' ने रख दिया हो, हाथ जिस किसी की पीठ पर—
उस मिट्टी के पुतले नर में भी, शुभ भाव 'उदय' हो गये।

मारगोर

☐ पं. उदयमुनि 'संत रत्न'

शत् शत् वन्दन

'आदर्श-श्रावक'
संयोजक
संतरत्न पं उदयमुनिजी म. सा.

(१)

यूं तो इस धरा पर सैकड़ों रोज जन्म लेते हैं,
खान-पान भोग-विलास में जीवन गंवा देते हैं।
कभी-कभी ही जन्म लेते हैं ऐसे मानव 'अभय'
जो अपना कर संयम पथ जीवन सफल कर लेते हैं ।।

(२)

मालव प्रान्त की रत्नपुरी है नर रत्नों की खान,
देकर जन्म कई सपूतों को इसने बढ़ाई अपनी शान ।
'विरमावल' है ग्राम समीप में बड़ा ही मनोहारी,
इस बात में रखी है इस गांव ने भी अपनी आन ।।

(३)

दिन बड़ा ही शुभ था पिता श्री पन्नालाल के घर,
माता नाथीबाई की कुक्षी से जन्मा था प्यारा कंवर ।
संवत् उन्नीस सौ पच्चीस आषाढ़ विदी दसमी की थी घड़ी,
जीवन सार्थकता की गेंदालाल के मन में भावना थी जबर।।

(४)

जिसके मन में हो भाव धर्म के वह संसार क्यों चाहे,
न हो तो भी जल धार मार्ग स्वयं अपना बनावे ।
गेंदालाल आया था जग में धर्म ध्वजा फहराने को,
भला सांसारिक सुख वैरागी के मन कब है भावे ॥

(५)

ज्यों ज्यों दिन चढ़े सूर्य ताप भी बढ़ता है,
जितनी अच्छी जलवायु तो फल वृक्ष भी फलता है ।
दोनों परिवार तो है सदा से ही धर्म मग वीतरागानुरागी,
तब बालक आपके मन वैराग्य रंग गाढ़ा चढ़ता है ॥

(६)

(९)

पानी रहे निर्मल यदि वह सदा बहता रहे,
ज्ञान रहे सदैव बढ़ता यदि वह बंटता रहे।
चक्र, पवन, पानी कभी थमता नहीं है 'अभय'
साधु वही है जो नित नये क्षेत्रों में विचरता रहे ॥

(१०)

देने धर्म संदेश आप मालवा महाराष्ट्र गये,
मेवाड़, कर्नाटक, गुजरात घूमे प्रान्त नये नये।
अज्ञानी को बोध युवाओं को धर्मोन्मुख किया,
धर्म हित कर पैदल भ्रमण आपने कई परिसह सहे ॥

(११)

ज्ञान अर्जन के क्षेत्र में आप सदा अग्रणी रहे,
मनोभाव नित नई साहित्य सृजना की ओर बहे।
आगम, प्राकृत, निबन्ध, दृष्टान्त, स्मरण गढ़े अनेक,
जिनका कर पठन-मनन मन से अज्ञानता के किले ढ़हे ॥

(१२)

सादगी, सत्य, समभाव है आपके मन मांई,
'जैन सिद्धान्ताचार्य' की पा उपाधि ज्ञान प्रतिभा दिखाई।
बहु विध रच नवीन साहित्य, मुक्तक, अष्टक भी,
'उदय' ने मां सरस्वती के भण्डार की शोभा बढ़ाई ॥

(१३)

हो गये उनतीस साल संयम साधना में रत रहते,
सामायिक प्रतिक्रमण, थोकड़े सिखने की बात सदा कहते।
युवा वर्ग को धर्मोन्मुख करने में हैं आप प्रयत्न शील,
श्रमण श्रावक वर्ग के आप 'सन्त रत्न' हैं चहेते ॥

(१४)

है यही कामना आप वर्षों संयम साधना करो,
अज्ञानतम हरते धर्म बोध देते स्वस्थ्य सानन्द विचरो ।
सद् साहित्य सुनिर्देशन का आकांक्षी है यह समाज,
'उदय' तुम उदित भाव से साहित्य सृजन करो ।।

(१५)

इन्हीं भावों से पूरित कलम को विराम देता हूं,
'सन्त रत्न' के चरणों में शत-शत वन्दन करता हूं ।
हे सरस्वती पुत्र-धर्म मार्ग पथिक, बाल ब्रह्मचारी,
'अभय' पर कृपा बनी रहे यही कामना करता हूं ।।

१०१, धानमण्डी
रतलाम (म. प्र.)

अभय भटेवरा
एम. काम.

'आदर्श-श्रावक' पुस्तक के
उदार दान दाताओं के नाम

५०१) श्रीमान् राजमलजी बापुलालजो मेहता मन्दसौर
५०१) श्रीमान् शान्तिलालजी नरेन्द्रकुमारजी नाहर, मन्दसौर
५००) श्रीमान् लखमीचन्दजी तालेड़ा ब्यावर सेठ
स्व. श्री स्वरुपचन्दजी तालेड़ा की स्मृति में।

५००) श्रीमान् भंवरलालजी सकलेचा बेंगलोर मलेश्वरं
स्व. सेठ श्री गुलाबचन्दजी की स्मृति में।

५००) श्रीमान् हीरालालजी भंवरलालजी परमार संजीत
श्री रमेशचन्दजी आशाबाई के ब्याह के उपलक्ष में।

२५१) श्रीमान् मोहनलालजी हीरालालजी छायन
स्व. सेठ श्री वरदीचन्दजी की स्मृति में।

२५१) श्रीमान् राजमलजी सज्जनराजजी मेहता, मन्दसौर
२५१) गुप्त भेंट
२५१) श्रीमान् फूलचन्दजी दूगढ, मन्दसौर
२०१) श्रीमान् मांगीलालजी सुरेशचन्दजी, अमीरपेठ हेदराबाद-१६
१२५) श्रीमान् इन्दरमलजी, रींछावाला
१११) श्रीमान् केश्रीमलजी ऊंकारलालजी, नलखेड़ा
१०८) श्रीमान् समरथमलजी करजुवाला, मन्दसौर
१०१) श्रीमान् राजमलजी कनकमलजी, वीरमावल
स्व. सेठ श्री पन्नालालजी की स्मृति में।

१०१) श्रीमान् अभयकुमारजी पामेचा की धर्म पत्नी विमलाबाई, रतलाम

१०१) श्रीमान् चाँदमलजी जुवारमलजी कोठारी, पीपलखुंटा
स्व, श्री कंचनबाई की स्मृति में

१०१) श्रीमान् नाथूलालजी बसन्तिलालजी पीपाड़ा मंडी

१०१) श्रीमान् नान्दमलजी होठल वाला, मानपुरा (मन्दसोर)

१०१) श्रीमान् नान्दमलजी पामेचा, पिपलीपुरा (मन्दसोर)

१०१) श्रीमान् नाथूलालजी गोटावाला, मन्दसोर

१०१) श्रीमान् बसन्तिलालजी उकावत, मन्दसोर

१०१) श्रीमान् भंवरलालजी रूणवाल की धर्मपत्नी गणपतबाई
कोपलवाला, टुमकुर

१००) श्रीमान् गजराजजी मुथा की धर्मपत्नी श्री सुन्दरबाई, मद्रास

१००) श्रीमान् जड़ावचन्दजी की धर्मपत्नी श्री रोडीबाई, बरोटा

१००) श्रीमान् तेजसिंहजी कांकरीया की धर्मपत्नी श्री कमलाबाई,
भोपालगंज

१००) गुप्त भेंट

१००) श्रीमान् सौभागमलजी छायन स्व. श्री रखबचंदजी की स्मृति में

१००) श्रीमान् पटवारी विजयराजजी मेहता की धर्मपत्नी प्रेमबाई
डूंगला वाले, प्रतापगढ़

१००) श्रीमान् राजमलजी कोठारी लसाणी
विदुषी महासती श्री नानकुंवरजी म. सा. की प्रेरणा से

६०६४)

स्व. सेठ स्वरूपचंदजी तलेरा ब्यावर

ब्यावर के प्रमुख एवं सुप्रसिद्ध श्रीमान् सेठ स्वरुपचन्दजी तालेरा से जिसने एक वार भी भेंट की। वह अपने जीवन में कभी उन्हें भूल नहीं सकता। यह उनके स्वागत सत्कार व वात्सल्य भावना की अपनी विशेषता थी।

आपका जन्म सं. १९४८ में भंवरी (मारवाड़) में हुआ अपने पिता श्री कुन्दनमलजी तालेरा की छत्रछाया में बाल्यकाल सुखपूर्वक व्यतीत कर आप सं. १९५६ में ब्यावर पधारे एवं यहां विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। शिक्षा की ओर विशेष रुचि न होने के कारण आपने कुछ वर्ष वाद ही नोकरी कर ली और व्यापारिक क्षेत्र की विशेष जानकारी करने में दिलचस्पी रखी। सन् १९१८ में आपने ऊन का व्यापार शुरू किया, भाग्य ने आपका साथ दिया लक्ष्मी ने आपको वरद हाथों से वरा और इस प्रकार आपने आशातीत सफलता प्राप्त की। वम्बई में आपने बड़े पैमाने पर ऊन का कारोवार वढाया और भारत में ही नहीं, विलायत में भी अपनी प्रामाणिकता एवं कार्य कुशलता की छाप जमाई। इस प्रकार लाखों की संपत्ति का उपार्जन कर आप पूर्ण वैभवशाली बने।

दानदाताओं का

संक्षिप्त जीवन परिचय

❖ श्री बापुलालजी मेहता मन्दसौर दिवाकर जैन संस्थाओं के विशेष सहयोगी हैं। धार्मिक प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाने में आप तन-मन-धन से मदद करते हैं। आप स्थानीय संघ के कोषाध्यक्ष हैं। स्व. जैन दिवाकरजी म. सा. के परम भक्त हैं। आपके सुपुत्र श्री हीरालालजी भी समाज के कर्मठ एवं उत्साही कार्यकर्ता हैं।

❖ श्री शान्तिलालजी नाहर मन्दसौर निवासी होकर धार्मिक कार्यों में अग्रणी हैं। आपका जीवन उत्साह और उमंग की प्रतिमा है। आपके सुपुत्र श्री नरेन्द्रकुमार भी प्रतिभाशाली युवक हैं।

❖ स्व. श्री गुलाबचन्दजी सखलेचा बीजाजी का गुड़ा मारवाड़ के मूल निवासी थे। वर्तमान में आपका परिवार मल्लेश्वर बेंगलोर में निवास करता है। आप स्वभाव से उदार और धर्म प्रेमी थे। आपके सुपुत्र श्री भंवरलालजी नियमित तपस्चर्या की आराधना करते हैं। सामाजिक और धार्मिक कार्यों में आप सदैव अग्रणी हैं। अपने निवास स्थल मल्लेश्वर में आपने पाठशाला भवन का निर्माण करवाया है। इनके पुत्र इन्द्रमलजी और महेन्द्र कुमारजी भी उदार स्वभाव के ही पारिलक्षित होते हैं।

❖ स्व. श्री वर्दीचन्दजी गुप्ता सादपल जिला धार म. प्र. के निवासी थे। आपने प्रियोदय साहित्य प्रकाशन में आर्थिक सहयोग दिया है। आपकी धर्म पत्नी रम्भाबाई और सुपुत्र श्री मोहनलालजी, श्री हीरालालजी भी साहित्य प्रकाशन में पितृ तुल्य आर्थिक सहयोगी हैं।

❖ श्री फूलचन्दजी दुगड़ मन्दसौर के निवासी हैं। आप धार्मिक और सामाजिक कार्यक्रमों में उत्साह से भाग लेते हैं। आपके सुपुत्र श्री आनन्दीलालजी भी आपकी ही तरह उत्साही हैं। समाज को आप से बहुत बड़ी आशाएं हैं।

❖ श्री सज्जनलालजी मेहता मन्दसौर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में अपना स्थान रखते हैं। स्थानीय संघ के उपाध्यक्ष हैं। सामाजिक कार्यों में आपकी भूमिका महत्वपूर्ण है। स्व. जैन दिवाकरजी म. सा. के परम भक्तों में से हैं।

आदर्श-श्रावक

विषयानुक्रमणिका

(१) विषय प्रवेश, जीवन ध्येय — १

ध्येय प्राप्ति के साधन — ५

जीवन-शोधन और आचार का महत्व — ८

भूमिका-भेद से आचार के भेद — १०

श्रावक का स्वरूप — १२

आध्यात्मिक संग्राम और बोधि-लाभ — १४

(२) मार्गानुसारी के पैंतीस गुण — १६

१. न्यायोपार्जित धन — १८

२. शिष्टाचार प्रशंसा — २१

३. समानकुलशील से विवाह सम्बन्ध — २२

४. पाप भीरू — २२

५. प्रसिद्ध देशाचार का पालन — २३

६. अवर्णावाद का परिहार — २४

७. सुस्थान में निवास — २५

८. सदाचारियों की संगति — २६

९. मातृ–पितृ–भक्ति — २७

१०. संकट ग्रस्त मार्ग का परिहार — २९

११. गर्हित कार्यों में अप्रवृत्ति — ३०

१२. आयोचित व्यय — ३०

१३. उचित पोशाक — ३२

१४. बुद्धि की सूमिता ३६
१५. दैनिक धर्म श्रवण ३७
१६. अजीर्ण होने पर भोजन का त्याग ३८
१७. नियमित आहार ४०
१८. पुरूषार्थ साधन ४२
१९. अतिथि-साधु और दीन की सेवा ४५
२०. कदाग्रह का त्याग ४६
२१. गुणों में पक्षपात ४८
२२. अदेश और अकाल का परिहार ४९
२३. सामर्थ्य विचार ५०
२४. आचार ज्ञान सम्पन्न की सेवा ५१
२५. आश्रितों का भरण-पोषण ५२
२६. दीर्घदर्शी ५५
२७. विशेषज्ञ ५६
२८. कृतज्ञ ५७
२९. लोक वल्लभ ५७
३०. लज्जा सम्पन्न ५८
३१. दयालु ५९
३२. सौम्य ६०
३३. परोपकार-परायण ६०
३४. अंतरंग वैरियों के त्याग के लिये प्रयत्न ६२
३५. इन्द्रिय-विजय ६२

(३) धर्माधिकारी के इक्कीस गुण ६५
१. अक्षुद्र ६५
२. रूपवान ६६
(३) प्रकृति से सौम्य ६७
(४) लोकप्रिय (५) अक्रूर (६) पापभीरू
(७) शठता से मुक्त (८) सुदाक्षिण्य युक्त

(९) लज्जायुक्त (१०) दयालु (११) मध्यस्थ भाव रखने वाला (१२) सौम्य दृष्टि (१३) गुणानुरागी (१४) सत्कथ-सपक्षयुक्त (१५) दीर्घदर्शी (१६) विशेपज्ञ (१७) गुणों का उपार्जन (१८) विनयी (१९) कृतज्ञ (२०) परहितकारी (२१) लब्धलक्ष्य
जगत वल्लभ श्री चोथमलजी महाराज (गीत) ६९

(४) सम्यक्त्व, सम्यक्त्व का महत्व ७०
रत्न-त्रय में सम्यग् दर्शन की प्रधानता ७१
सम्यक्त्व का पुण्य प्रभाव ७३
सम्यक्त्व का स्वरूप ७४
देव का स्वरूप ७६
गुरु का स्वरूप ७९
धर्म का स्वरूप ८२
आप्त-प्रणति-शास्त्र ८३

(५) सम्यक्त्व के आठ अंग ८४
१. निःशङ्कित ८५
२. निःकांक्षित ८६
३. निर्विचिकित्सा ८८
४. अमूढ दृष्टि ८९
५. उपबृंहण ९०
६. स्थिरीकरण ९०
७. वात्सल्य ९०
८. प्रभावना ९१

(६) सम्यक्त्व के पांच भूषण ९१
१. स्थिरता ९१
२. प्रभावना ९२

३. भक्ति ९२
४. जिन शासन में निपुणता ९२
५. तीर्थ सेवा ९२

(७) सम्यक्त्व के दूषण ९२
१. शङ्का ९३
२. काङ्क्षा ९३
३. विचिकित्सा ९३
४. अन्य-दृष्टि-प्रशंसा ९३
५. अन्य दृष्टियों का परिचय ९४

(८) सम्यक्त्व के चिन्ह ९४
१. शम ९४
२. संवेग ९५
३. निर्वेद ९६
४. अनुकम्पा ९८
५. आस्तिक्य ९८

(९) श्रावक के व्रत १००
अहिंसा व्रत १०४
सत्य व्रत १०८
अस्तेय व्रत ११३
ब्रह्मचर्य व्रत ११९
परिग्रह-परिमाण व्रत १२५
दिक् परिमाण व्रत १३०
भोगोपभोग परिमाण व्रत १३२
अनर्थदण्ड विरमण व्रत १३७
सामायिक व्रत १३९
देशावकाशिक व्रत १४३

(९) लज्जायुक्त (१०) दयालु (११) मध्यस्थ भाव रखने वाला (१२) सौम्य दृष्टि (१३) गुणानुरागी (१४) सत्कथ-सपक्षयुक्त (१५) दीर्घदर्शी (१६) विशेषज्ञ (१७) गुणों का उपार्जन (१८) विनयी (१९) कृतज्ञ (२०) परहितकारी (२१) लब्धलक्ष्य
जगत वल्लभ श्री चोथमलजी महाराज (गीत) ६९

(४) सम्यक्त्व, सम्यक्त्व का महत्व ७०
रत्न-त्रय में सम्यग् दर्शन की प्रधानता ७१
सम्यक्त्व का पुण्य प्रभाव ७३
सम्यक्त्व का स्वरूप ७४
देव का स्वरूप ७६
गुरू का स्वरूप ७९
धर्म का स्वरूप ८२
आप्त-प्रणति-शास्त्र ८३

(५) सम्यक्त्व के आठ अंग ८४
१. निःशङ्कित ८५
२. निःकांक्षित ८६
३. निर्विचिकित्सा ८८
४. अमूढ़ दृष्टि ८९
५. उपबृंहण ९०
६. स्थिरीकरण ९०
७. वत्सलता ९०
८. प्रभावना ९१

(६) सम्यक्त्व के पांच भूषण ९१
१. स्थिरता ९१
२. प्रभावना ९२

३. भक्ति ९२
४. जिन शासन में निपुणता ९२
५. तीर्थ सेवा ९२

(७) सम्यक्त्व के दूषण ९२
१. शङ्का ९३
२. काङ्क्षा ९३
३. विचिकित्सा ९३
४. अन्य-दृष्टि-प्रशंसा ९३
५. अन्य दृष्टियों का परिचय ९४

(८) सम्यक्त्व के चिन्ह ९४
१. शम ९४
२. संवेग ९५
३. निर्वेद ९६
४. अनुकम्पा ९८
५. आस्तिक्य ९८

(९) श्रावक के व्रत १००
अहिंसा व्रत १०४
सत्य व्रत १०८
अस्तेय व्रत ११३
ब्रह्मचर्य व्रत ११९
परिग्रह-परिमाण व्रत १२५
दिक् परिमाण व्रत १३०
भोगोपभोग परिमाण व्रत १३२
अनर्थदण्ड विरमण व्रत १३७
सामायिक व्रत १३९
देशावकाशिक व्रत १४३

卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

आदर्श-श्रावक

विषय-प्रवेश

जीवन-ध्येय

आर्य तत्व-ज्ञान का आदर्श केवल वस्तु-तत्व विचारणा ही नहीं है अपितु जीवन का संशोधन करना और आत्मा का परिपूर्ण विकास करना है। वस्तुतः वही तत्व-ज्ञान, तत्व-ज्ञान है, वही धर्म, धर्म है और वही संस्कृति, संस्कृति जो जीवन को उत्तरोत्तर विकसित करके उसके शुद्ध स्वरूप तक पहुंचाती है। जो तत्व मिट्टी से सोना बनाता है, जो शैतान या हैवान को इन्सान बनाता है और जो मानव को महामानव बनाता है, वही सच्चा तत्व-ज्ञान हैं, वही सच्चा धर्म है जो तत्वज्ञान केवल सिद्धान्त चर्चा तक ही समाप्त हो जाता है, जो केवल बाल की खाल निकालने में ही कृतार्थता का अनुभव करता है तथा जो जीवन का शोधन और नव निर्माण न करके थोथे वादविवाद का ही विषय बना रहता है, वह वास्तविक तत्वज्ञान नहीं अपितु बुद्धि को कसने का अखाड़ा या विद्वानों का वाणी—विलास मात्र है।

साधकतम साधन हैं अतः इनकी भी गिनती सम्भवतः पुरुपार्थों के साथ करली गई है। भौतिक जगत् में विचरण करने वाले व्यक्ति, जो 'काम' को ही पुरुपार्थ मानकर उसी में रचे-पचे रहते हैं, इस संसार में भटकते रहेंगे और सुख के बदले अशान्ति ही पाते रहेंगे। इसके विपरीत जो मोक्ष-पुरूपार्थ की और प्रवृत्ति करते हैं वे शाश्वत शान्ति का आस्वादन करेंगे और अपने सहज स्वभाव में स्थित हो सकेंगे। ※

ध्येय-प्राप्ति के साधन

परम और चरम पुरुपार्थ-मोक्ष की सिद्धि के लिए 'धर्म' की अपेक्षा अनिवार्य है। धर्म शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है। साधारणतया 'दुर्गति प्रसृतान्जन्तून धारयतीति धर्मः' यह धर्म की परिभाषा कही जा सकती है। जो दुर्गति की ओर जाते हुए जन्तुओं को बचाता है वह धर्म है। दुर्गति का अर्थ नीची अवस्था या पतन-दशा से है। तात्पर्य यह हुआ कि जो कार्य पतन से बचाता है और विकास को ओर ले जाता है वह धर्म है। विकास की पराकाष्ठा मोक्ष है। अर्थात् जो आत्मा को अपने लक्ष्य-मोक्ष तक ले जाय वह धर्म है।

इस धर्म-तत्व के शास्त्रकारों ने तीन भेद बताये हैं– 'सम्यग् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः" । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, यह त्रिपुटी ही मोक्ष-मार्ग है। मोक्ष-मार्ग अर्थात् धर्म।

सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण ही धर्म का मर्म है। इन तीनों का त्रिवेणी-संगम हो संसार-सागर से पार

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]। दोनों मिलकर ही मोक्ष के साधन हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों का समावेश ज्ञान में और सम्यक् चारित्र का समावेश क्रिया में हो जाता है, इस तरह से दोनों सूत्र एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं।

तात्पर्य यह है कि यथार्थ तत्त्व-ज्ञान उस पर दृढ़ श्रद्धा और तदनुकूल आचार, यही जीवन-श्रेय को प्राप्त करने के साधन हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि तत्त्व-ज्ञान की सार्थकता का माप दण्ड जीवन की संशुद्धि है। जीवन की शुद्धि में आचार का महत्वपूर्ण स्थान है। ※

जीवन-शोधन और आचार का महत्व

जगत् के समस्त धर्म-प्रवर्तकों ने देश-काल की परिस्थिति के अनुसार विविध आचारों का विधि-विधान किया है। परन्तु उन सबका मूल उद्देश्य अपने अनुयायी वर्ग के चारित्र को उन्नत बनाना और उन पर ऐसी छाप डालना कि जिससे वे अपने जीवन व्यवहार को सात्विक बनाकर ऐहलौकिक एवं पारलौकिक हित का साधन कर सकें। अन्य सब धर्मों की अपेक्षा जैन धर्म ने इस बात पर अधिक भार दिया है। न केवल त्यागी वर्ग के लिए ही अपितु श्रावक वर्ग के लिए भी आचार ग्रन्थों में आचार-मर्यादा का विधान करके तदनुकूल प्रवृत्ति करने का उसमें आदेश दिया गया है। जैन धर्म ने साधु और श्रावक के चरित्र का आदर्श

आलेखन कर तदनुरूप अपने जीवन का निर्माण करने के लिए विविध प्रवृत्ति और निवृत्तिमय विधि-निषेधों का सृजन किया है।

जैन धर्म ने अपने अनुयायी वर्ग के जीवन-शोधन पर अधिक से अधिक भार दिया है। उसने अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जितना उनके जीवन के संशोधन पर। यही कारण है कि बौद्ध आदि धर्मों का जनसंख्या की दृष्टि से जितना प्रचार हुआ उतना जैन धर्म का नहीं। फिर भी यह कहने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि जैन संस्कृति अपने अनुयायियों में जितनी गहरी उतरी, उतनी अन्य संस्कृति अपने २ अनुयायियों में गहरी नहीं उतरी। यही कारण है कि अनेक विरोधी परिस्थितियों में भी जैन धर्मावलम्बी अपनी संस्कृति से अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक अंशों में चिपके रहे। बौद्ध आदि अन्य मतावलम्बी विविध विरोधी वातावरण में अपनी मूल संस्कृति से दूर हट कर नाम मात्र से उनके अनुयायी बने रहे। बौद्ध धर्म अपनी जन्मभूमी से लुप्त प्राय हो गया और विदेशों में भी जनसंख्या की दृष्टि से अधिक होने पर भी संस्कृति दृष्टि से नाम मात्र रह गया। इसका कारण यह भी है कि बौद्ध धर्म ने अपने अनुयायियों की आचार मर्यादा के पालन पर उतना लक्ष्य नहीं दिया जबकि जैनधर्म ने अपने अनुयायियों को आचार-मर्यादा पर पूरा पूरा लक्ष्य दिया।

जैनधर्म ने अपने आगमग्रन्थों में आचार शास्त्र को सर्वप्रथम स्थान देकर आचार की महत्ता प्रतिपादित की है। आचार-शास्त्र के नियुंक्तिकार ने आचार को ही द्वादशाङ्गी का सार कहा है और परम्परा से इसे ही अव्याबाध सुख का कारण बताया है। इससे आचार धर्म की कितनी महत्ता है यह स्पष्ट हो जाता है।

[illegible] भेद से आचार के भेद

[illegible]
[illegible] की गई है। महाज्ञानी और परम मानव [illegible] भगवान महावीर ने विभिन्न स्तर पर रहे हुए व्यक्ति के लिए भी विकास की क्रमिक योजना निर्धारित की है।

जिस प्रकार शिक्षा शास्त्रियों ने प्रारम्भिक वर्णमाला के ज्ञान से लेकर विश्वविद्यालय के सर्वोच्च शिक्षण तक अनेक क्रमिक श्रेणियाँ बनाई हैं और उन्हें उत्तरोत्तर उत्तीर्ण करने वाला विद्यार्थी स्नातक हो जाता है, इसी तरह योग्यता और पात्रता के भेद के कारण आचार-धर्म की भी विविध श्रेणियाँ महामानव महावीर प्रभु ने प्रवेदित की हैं, जिन पर क्रमशः चढ़ता हुआ व्यक्ति आचार धर्म का आचार्य (स्नातक) बन जाता है और अपना जीवन-ध्येय प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है।

जिस प्रकार कुशल अध्यापक विद्यार्थी की योग्यता का विकास करने के लिए उसकी वर्तमान योग्यता की परीक्षा करने के पश्चात् तदनुकूल पाठ्यक्रम का निर्धारण करता है, जैसे निपुण वैद्य रोगी को रोग-मुक्त करने के लिए उसकी वर्तमान शक्ति को देखकर तदनुकूल औषधि एवं पथ्य का सूचन करता है, ऐसा करने में ही छात्र और रोगी का हित है। यदि ऐसा न करके वर्तमान योग्यता और शक्ति से अधिक उच्च पाठ्यक्रम या उच्च

रसायन उन्हें दे दिया जाय तो वह छात्र और रोगी के लिए तो अहित कर होती ही है परन्तु अध्यापक और वैद्य के लिए भी अपयश का कारण होता है। इसी प्रकार आचार शास्त्र के कुशल प्राध्यापक और धर्मरूप आरोग्य के देने वाले निपुण वैद्य प्रभु महावीर ने संसारवर्त्ती प्राणियों की विविध-न्यूनाधिक योग्यता एवं पात्रता को लक्ष्य में लेकर आचार धर्म की विविध श्रेणियाँ बनाई हैं। स्वरूपोन्मुख होने की स्थिति से लेकर स्वरूप की पराकाष्ठा प्राप्त कर लेने तक की मुख्य २ श्रेणियाँ इस प्रकार हैं—(१) मार्गानुसारी (२) सम्यगदृष्टि (३) देशविरत (४) सर्वविरत और (५) केवली तदपि आचार-धर्म की समस्त श्रेणियों का वर्गीकरण करते हुए उसके मुख्य दो भेद बताये गये हैं। स्थानाङ्ग सूत्र के द्वितीय स्थान में कहा गया है:—

चरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते तंजहा-अगार चरित्त-धम्मे चेव-अणगार चरित्त धम्मे चेव। (स्थानाङ्गसूत्र-द्वितीय स्थान प्रथम उद्देशक)

अर्थात् चारित्र धर्म दो प्रकार का कहा गया है—(१)अगार चारित्र धर्म और (२) अनगार चारित्र धर्म।

यही बात समर्थ आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने अपने 'धर्म विन्दु प्रकरण' ग्रन्थ में इस प्रकार कही है:—

सोऽयमनुष्ठातृभेदात् द्विविधो गृहस्थ धर्मो यति धर्मश्चेति।

अर्थात्—वह आचार धर्म अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति के भेद से दो प्रकार का है प्रथम गृहस्थ-धर्म और दूसरा यति-धर्म गृहस्थ धर्म अर्थात् श्रावक-धर्म और यति-धर्म अर्थात् साधु-धर्म।

*

क— किरन्ति विलष्ट कर्मरजो विक्षिपन्तीति काः— जो तीव्र अशुभ कर्मरुपी रज को नष्ट करते हैं वे 'क' कहलाते हैं।

उक्त तीनों पदों का कर्मधारय समास करने पर श्रावक पद की निष्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जिसकी सत्य-तत्वों पर पूर्ण श्रद्धा हो, जो अपने न्यायोपार्जित धन का शुभ कार्यों में उपयोग करता हो और जो तीव्र अशुभ कर्मों को नष्ट करता हो वह 'श्रावक' कहलाता है।

उक्त दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियों का हार्द एक ही है और वह यह है कि सच्ची श्रद्धा-पूर्वक सत्य-तत्व को श्रवण करके उसे शक्ति के अनुसार जीवन में उतारना ही श्रावक का स्वरूप है। यह स्वरुप भी सहसा नहीं प्राप्त हो जाता है। इसके लिए भी आत्मा के प्रबल-पुरुपार्थ की अपेक्षा रहती है। यद्यपि आत्मा अपने मूल स्वरुप से अनन्त शक्तिमान्, ज्ञानवान्, आनन्दमय एवं स्फटिक रत्न के समान निर्मल है तदपि वह अनादिकाल से राग-द्वेष और मोह के प्रबल आवरण से आवृत होने के कारण विभावदशा को प्राप्त हो रहा है इससे उसकी सारी शक्तियां अवरुद्ध हो रही हैं। मोह के प्राबल्य से आत्मा अपने स्वातन्त्र्य को गंवाकर मोहाधीन हो रहा है। आत्मा रूपी राजा अपने अतुल वैभव से वंचित होकर मोह राजा के कारागार में कैद हो रहा है। इस दीर्घकालीन गुलामी के कारण आत्मा का इतना अधिक अधःपतन हो गया है कि वह अपने स्वतन्त्र स्वरुप को ही भूल गया है और पर (विकृत) को ही अपना स्वरुप मानने लग गया है। यहां पतन की पराकाष्ठा है। ऐसी परिस्थिति में अपने मूल स्वरुप का दर्शन करने और उसे पुनः प्राप्त करने के लिए कितने भारी पुरुषार्थ की आवश्यकता है, यह सहज ही समझा जा सकता है। ※

विकास करना उसका स्वभाव है । अतः जैसे पार्वत्य नदी का पत्थर चट्टान आदि के आघात-प्रत्याघातों को सहन करता हुआ गोल-सुन्दर आकृति वाला बन जाता है उसी तरह यह आत्मा भी विविध आघात-प्रत्याघातों को झेलता हुआ जानते-अजानते इतना सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है कि वह अपने वीर्योल्लास के कारण मोह के आवरण को कुछ अंश में शिथिल कर देता है। मोह के प्रभाव के कम होते ही आत्मा विकास की ओर अग्रसर होता है और राग-द्वेष की तीव्रतम-दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़ने की योग्यता कतिपय अंशों में प्राप्त कर लेता है। आत्मा की इस अल्प आत्म-विशुद्धि को 'यथाप्रवृत्ति करण' कहा जाता है। इस करण के द्वारा आत्मा का वीर्योल्लास होने पर आत्मा की स्वाभाविक और वैभाविक शक्तियों के बीच घोर संग्राम होने लगता हैं। एक ओर राग-द्वेष और मोह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर आत्मा को बन्धन में बांधे रखने का प्रयास करते हैं और दूसरी ओर विकासाभिमुख आत्मा भी उनके प्रभाव को कम करने के लिए अपने वीर्य-बल का प्रयोग करता है इस आध्यात्मिक संग्राम में कभी आत्मा को विजय होती है और कभी मोह की। अनेक आत्मा ऐसे होते हैं जो लगभग ग्रंथि-भेद करने लायक बल प्रकट करके भी अन्त में राग-द्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर अपनी पहली अवस्था में आजाते हैं। वे प्रयत्न करते हुए भी राग-द्वेप पर विजय नहीं पा सकते। अनेक आत्मा ऐसे भी होते है जो न हार मानकर पीछे हटते हैं और न विजय-लाभ ही कर पाते हैं। कोई-कोई आत्मा ऐसे भी होते हैं जो अपने प्रबल पुरुषार्थ और अदम्य वीर्योल्लास के कारण राग द्वेष की निबिडतम ग्रंथि का भेदन कर डालते हैं और इस संग्राम में विजयी बनते हैं। शास्त्रीय परिभाषा में इस ग्रन्थि-भेद रुप विजय को 'अपूर्वकरण' कहते हैं।

राग-द्वेष की तीव्रतम ग्रंथि का भेद हो जाने पर आत्म-शुद्धि और वीर्योल्लास की मात्रा जब बढ़ जाती है तब आत्मा मोह की प्रबलतम शक्ति—दर्शनमोह पर अवश्य विजय प्राप्त करता है। उस विजयकारक आत्म-शुद्धि को 'अनिवृत्तिकरण' कहते हैं। इस करण में आत्मा में ऐसा सामर्थ्य पैदा हो जाता है कि वह दर्शन-मोह पर विजय-लाभ किये बिना नहीं रहता। दर्शन मोह पर विजय प्राप्त करते ही आत्मा को स्वरूप-दर्शन हो जाता है। वह अपने शुद्ध चिदानन्दमय मूल स्वरूप की अनुभूति से हर्ष-विभोर हो जाता है। उसकी अनादिकालीन भ्रान्ति दूर हो जाती है और वह अपने आप में उस अकलंक ज्योति के दर्शन करता है जो स्फटिक के समान शुद्ध, बुद्ध, निरंजन और निर्विकल्प है। इसी [illegible] अवस्था की प्राप्ति को शास्त्रीय भाषा में सम्यक्त्व अथवा [illegible] कहते हैं।

[illegible] सम्यक्त्व ही मुक्ति का द्वार, धर्म का आधार, गुण-रत्नों का [illegible] और संसार सागर से पार करने वाला है। इसके [illegible] ज्ञान और क्रिया में सम्यक्ता आती है। यही [illegible] धर्म का मूल है। इसके होने पर ही [illegible] [illegible] है। ※

मार्गानुसारी के पैंतीस गुण

[illegible]

होते। इसलिए वे यद्यपि आध्यात्मिक सत्व के सर्वथा अनुकूल गामी नहीं होते तथापि उनका बोध और चरित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा उज्ज्वल होता है। यद्यपि वे सम्यग्दृष्टि नहीं होते तथापि उनकी दृष्टि उसके अभिमुख होती है। जिन आत्माओं ने अभी तक सम्यक्त्व रत्न का लाभ तो नहीं पाया लेकिन उसके अभिमुख हुए हैं वे मार्गानुसारी कहलाते हैं। आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने योग शास्त्र में उनके पैंतीस गुण बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं:—

न्यायसम्पन्नविभवः, शिष्टाचार प्रशंसक।
कुलशीलसमैः सार्द्धं, कृतोद्वाहोऽन्य गोत्रजैः॥

पापभीरुः प्रसिद्धं च, देशाचारं समाचरन्।
अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषतः॥

अनतिव्यक्त गुप्ते च, स्थाने सुप्रातिवेश्मिके।
अनेकनिर्गम द्वार विवर्जित निकेतनः॥

कृत संगः सदाचारैः मातापित्रोश्च पूजकः।
त्यजन्नुपप्लुतं, स्थानमप्रवृत्तश्च गर्हिते॥

व्ययमायोचितं कुर्वन्, वेषं वित्तानुसारतः।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः, शृण्वानो धर्ममन्वहम्॥

अजीर्णे भोजन त्यागी, काले भोक्ता च सात्म्यतः।
अन्योन्या प्रतिबन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयन्॥

यथा वद तिथौ साधौ, दीने च प्रतिपत्तिकृत्।
सदानभिनिविष्टश्च पक्षपाती गुणेषु च॥

अदेशाकालयोश्चर्यां, त्यजन् जानन् बलाबलम् ।
वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां, पूजकः पोष्यपोषकः ॥

दीर्घदर्शी विशेषज्ञः, कृतज्ञो लोकवल्लभः ।
सलज्जः सदयः सौम्यः, परोपकृति कर्मठः ॥

अन्तरंगारिषड्वर्ग–परिहार परायणः ।
वशीकृतेन्द्रिय ग्रामो, गृहिधर्माय कल्पते ॥

(योग शास्त्र प्रकाश १ श्लोक ४७-५६)

(१) **न्यायोपार्जित धनः—** नीति धर्म की नींव है। जैसे नींव वे
बिना महल खड़ा नहीं रह सकता है उसी तरह नीति के बिन
धर्म का पालन नहीं हो सकता है। अतः धर्म की ओर अभिमुर
होने वाले गृहस्थ को अपना व्यवहार नीतिमय बनाना चाहिए।
नीतिमय जीवन ही धार्मिक जीवन की बुनियाद है। नीतिमर
आचरण ही सद्गृहस्थ का सर्वोपरि कर्त्तव्य है। उसके जीवन में
नीति और न्याय ताने-बाने की तरह बुने हुए होते हैं।

गृहस्थाश्रमी के लिए अर्थोपार्जन का प्रश्न बड़े महत्व का है
क्योंकि गृहस्थाश्रम की नैया को कुशलता पूर्वक पार पहुंचाने वे
लिए अर्थ की अनिवार्य आवश्यकता होती है। जीवन-निर्वाह वे
लिए द्रव्य का उपार्जन करना गृहस्थ का कर्त्तव्य होता है। जं
गृहस्थ द्रव्योपार्जन की योग्यता नहीं रखता वह प्रायः गृहस्थ-धर्म
का पालन नहीं कर सकता है। अतः जीवन की अनिवार्य आवश्-
यकताओं की पूर्ति के लिए गृहस्थ को द्रव्य का उपार्जन करना
पड़ता है। परन्तु यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिये कि वह धन
न्याय पूर्वक पैदा किया जाय। सच्चा गृहस्थ अपने जीवन-निर्वाह

के उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर द्रव्योपार्जन करता है, अतः कदापि अन्याययुक्त तरीकों को नहीं अपनाता है । इसके विपरीत जो व्यक्ति द्रव्योपार्जन को ही अपने जीवन का ध्येय मान लेता है वही न्याय-अन्याय का विचार न करके जिस किसी तरह धन बटोरने में लिप्त रहता है । ऐसा व्यक्ति धर्म की आराधना करने का पात्र नहीं होता । सच्चा गृहस्थ जीवन के निर्वाह के लिए धन कमाता है न कि धन कमाने के लिए जीता है । अतः वह सदा इस बात पर पूरा पूरा लक्ष्य देता है कि न्याय युक्त तरीकों से ही धन का उपार्जन किया जाय ।

न्याय पूर्वक उपार्जित द्रव्य इहलोक और परलोक में हित करने वाला होता है । चूंकि वह द्रव्य न्याय-पूर्वक पैदा किया गया है इसलिए वह दूसरे लोगों की दृष्टि में अखरने वाला नहीं होता है अतः चिरकाल तक स्थायी होता है । न्याय से अर्थोपार्जन करने वाला व्यक्ति धन का गुलाम नहीं होता अपितु धन का स्वामी होता है । वह मुक्त और उदार हाथ से उसका शुभ कार्यों में उपयोग करता है अतः वह परलोक में भी हितकारी होता है । जो धन अन्याय से उपार्जित किया गया है वह इस लोक में भी अनर्थ का कारण होता है और परलोक में भी दुखदायी होता है । अन्याय के द्वारा उपार्जित होने के कारण वह द्रव्य चिरकाल स्थायी नहीं हो सकता । जो व्यक्ति दूसरों को लूट कर, दूसरों की धरोहर दबाकर, कम-ज्यादा तोल-माप कर, झूठे लेन-देन या कूट लेख लिखकर, गरीबों को चूस कर या किसी अन्य अनीतियुक्त तरीके को अपना कर धनवान् बनते हैं वे लोगों की दृष्टि में खटकने लगते हैं । इसका परिणाम बड़ा भयंकर होता । कहा है:—

पापेनैवार्थरागांधः, फलमाप्नोति यत्क्वचित् ।
बडिशामिषवत्तत्तमविनाश्य न जीर्यति ॥

[illegible]

जो द्रव्य अन्याय से उपार्जित होता है उसका शुभ कार्यों में उपयोग होना भी कठिन होता है। क्योंकि ऐसा करने वाला व्यक्ति धन का लोलुपी होता है। उसके हाथ से शुभ कार्यों में द्रव्य नहीं लग सकता है। अन्याय पूर्वक धन पैदा करने का पाप करके जो व्यक्ति दानादि के द्वारा उसे धो डालने की आशा रखते हैं वे भ्रम में हैं। कीचड़ में पांव भरकर धोने की अपेक्षा कीचड़ में पांव न भरना ही अच्छा है।

गृहस्थ के अर्थोपार्जन का उद्देश्य जीवन-निर्वाह है न कि धन का अपरिमित संग्रह करना। गृहस्थ को 'धर्मार्थमर्जयेत्' (धर्म के निर्वाह के लिए अर्जन करना चाहिये) इस सूत्र को ध्यान में रखना चाहिये। जीवन-निर्वाह के लिए अर्थ का उपार्जन करने का उत्कृष्ट उपाय न्याय ही है। हरिभद्रसूरी ने 'धर्मबिन्दु प्रकरण' में कहा है :—

न्याय एवं ह्यर्थाप्त्युपनिपत्परेति समयविद इति

अर्थात् द्रव्य-प्राप्ति का उत्कृष्ट और रहस्यभूत उपाय न्याय ही है, ऐसा सिद्धान्त वेत्ताओं का कथन है। और भी कहा है :—

निपानमिव मण्डूका सरः पूर्णमिवाण्ड जाः ।
शुभकर्माणमायान्ति विवशाः सर्वसम्पदः ॥

जिस प्रकार मेंढक कूप में और पक्षी जल से भरे हुए सरोवर पर अपने आप आजाते हैं, इसी प्रकार जो व्यक्ति शुभ कर्म करने वाला और न्यायपरायणा होता है उसे सर्व सम्पत्ति विवश होकर स्वतः प्राप्त होती है। अतः धर्माभिमुख होने वाले गृहस्थ का यह सर्व-प्रथम लक्षण है कि वह न्याय पूर्वक द्रव्य का उपार्जन करे।

(२) शिष्टाचार प्रशंसा:— मार्गानुसारी का दूसरा लक्षण गुण और गुणियों की प्रशंसा करना है। जो शिष्ट-सज्जन पुरुष हैं और जो शिष्ट सम्मत आचार हैं, उनकी प्रशंसा और सराहना करना स्वयं शिष्ट बनने की पात्रता प्राप्त करना है। जो व्यक्ति गुणियों के गुणों का कीर्त्तन करता हैं, गुणियों को देखकर प्रफुल्लित हो जाता है और उनका आदर-सत्कार करता है वह स्वयं गुणी बन जाता है। अन्यजनों की निन्दा का त्याग, सज्जनों की प्रशंसा, आपत्ति में धैर्य, सम्पति में नम्रता, प्रसंगोचित एवं मित भाषण, वृथा विवाद का त्याग, प्रतिज्ञा-पालन, प्राणान्त होने पर भी धर्म का परित्याग न करना, दुष्कर्म में प्रवृति न करना, कर्त्तव्यों का पालन करना इत्यादि शिष्टाचार हैं। इनकी हार्दिक प्रशंसा करने से हृदय पवित्र और सरल बनता है। सरल और पवित्र में ही धर्म टिक सकता है। जहाँ कपट और आडम्बर होता है वहाँ सच्चा धर्म नहीं रह सकता है। वाह्य आडम्बर से काम नहीं चलता है। विना दूध की गायों के बड़ी २ घुंघरमाल बांध देने से उनका मोल नहीं होता है उनका मोल तो दूध पर से ही होता है। इसी तरह आडम्बर से धर्म नहीं होता अपितु गुणों के ग्रहण से धर्म होता है। अतः गुण और गुणियों की प्रशंसा करके उनके गुणों को अपनाने के लिए प्रयत्न करना धर्मानुसारी का मुख्य कर्त्तव्य है।

[illegible] प्राप्त होती है। इसलिये समानकुल और समान-शील वाली कन्या से विवाह करने का यहां विधान किया गया है।

(४) **पाप भीरु :—** धर्म के अभिमुख होने वाले व्यक्ति को सदा पाप कर्म करने से डरना चाहिये। पापकर्म दृष्ट और अदृष्ट दुःख के कारण होते हैं। गृहस्थ का यह कर्त्तव्य है कि वह सदा इस बात का ध्यान रखे कि उस पर कोई दृष्ट या अदृष्ट अर्थात प्रत्यक्ष या परोक्ष बाधा या भय न आ पड़े। इसके लिए उसे ऐसे कर्मों से दूर रहना चाहिये जो भय के कारण हो। जैसे परदार-गमन, चोरी, जूवा खेलना, अन्याय करना, अत्याचार करना आदि कृत्य प्रत्यक्ष उपद्रव के कारण हैं। इनके कारण इस लोक में भी भयंकर विडम्बनाएं भोगनी पड़ती हैं और परलोक में नरक तथा तिर्यञ्च गति के दुःखों का अनुभव करना पड़ता है। इसलिए ऐसे पापकर्मों से गृहस्थ को सदा डरते रहना चाहिए। जो गृहस्थ पाप से डरता है वही धर्म के सन्मुख हो सकता है। जो व्यक्ति

निश्शंक होकर पाप में प्रवृत्ति करता है वह धर्म का अधिकारी नहीं हो सकता है। अतः गृहस्थ को सदा पाप से डरते रहना चाहिए। जो गृहस्थ पाप कर्म करने से डरता और दूर रहता है वह दृष्ट या अदृष्ट बाधा का शिकार नहीं होता है। वह सदा निर्भय और शान्तचित्त होता है। यही धर्म-प्राप्ति की योग्य भूमिका है। इसके विपरीत जो व्यक्ति पापकर्म करने में नहीं हिचकता वह किसी समय भयंकर आपत्तियों में फंस जाता है और वैसे भी उसका चित्त सदा शंकाशील एवं व्यग्र रहता है। वह धर्म प्राप्ति के लिए अयोग्य होता है। अतएव गृहस्थ को पापभीरु होना चाहिए।

(५) प्रसिद्ध देशाचार का पालन :– प्रत्येक गृहस्थ को शिष्ट जन-सम्मत देशाचार का पालन करना चाहिए। अपने देश में खान-पान, पोशाक, रीति-रिवाज आदि की जो परिपाटी प्रचलित है उसके अनुसार व्यवहार करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। हां, यह विवेक अवश्य रखना चाहिये कि वह परिपाटी हानिकारक तो नहीं है, विवेकपूर्वक प्रसिद्ध देशाचार का पालन करने में प्रत्येक गृहस्थ को गौरव का अनुभव करना चाहिये। इससे अपने देश समाज और जाति की संस्कृति के प्रति भक्ति प्रदर्शित होती है। प्रत्येक गृहस्थ को अपने देश की परिपाटी के अनुसार ही अपना खान-पान, वेश-भूषा, रहन-सहन आदि व्यवहार करना चाहिए। इसके विपरीत जो व्यक्ति विदेशी खान-पान, विदेशी वेश-भूषा और विदेशी-रहन-सहन का अन्धानुकरण करते हैं वे उपहास के के पात्र होने के साथ ही साथ अपनी संस्कृति के प्रति द्रोह करते हैं। धर्माभिमुख होने वाले गृहस्थ को अपनी संस्कृति का, अपने देश का, अपनी जाति का और अपने धर्म का गौरव होना चाहिए। अतः प्रसिद्ध लोकचार जहां तक हानिकर्त्ता न हो अर्थात् सम्यक्त्व

या सदाचार में बाधक न हो वहां तक उसका पालन करना चाहिए। देशाचार का उल्लंघन करने से देशवासी जनसमूह के साथ वैर-विरोध होने की सम्भावना रहती है और इसका परिणाम कल्याणकारी नहीं हो सकता। अतः प्रसिद्ध देशाचार का पालन करना चाहिए। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न हि करणीयम् नाचरणीयम्"। इस उक्ति में से इतना ही सार लेना चाहिए कि जो प्रसिद्ध देशाचार हानिकर्त्ता न हो उसका उसी रूप में पालन करना योग्य है।

(६) अवर्णवाद का परिहार :- सामान्यतया किसी भी व्यक्ति की निन्दा नहीं करना चाहिये। अपने मुख से किसी का अपवाद नहीं बोलना चाहिए। परनिन्दा करना एक भारी दुर्गुण है। इससे वैर और द्वेष की वृद्धि होती है। नीति शास्त्र में कहा है—

> न पर परिवादादन्यद्विद्वेषणे परं भैषजमस्ति।
> राजादिषु तु वित्त प्राणनाशादिरपि दोषः स्यादिति॥

किसी के साथ वैर और विद्वेष करने के लिए परनिन्दा से बढ़कर दूसरी कोई औषधि नहीं है। राजा आदि की निन्दा करने से धन और प्राण की भी हानि हो सकती है। इसलिए पर निन्दा का सर्वथा परिहार करना चाहिए। दूसरे की निन्दा करने में अपनी प्रशंसा का भाव छिपा रहता है। आत्मप्रशंसा करना और परनिन्दा करना अभिमान के द्योतक हैं। इनसे नीच गोत्र का बन्ध होता है। धर्म की ओर प्रगति करने वाले व्यक्ति को आत्म-प्रशंसा और पर निन्दा के पाप से सदा दूर रहना चाहिए 'मैं ऊंचा और अन्य नीचा,' 'मैं अच्छा और दूसरा बुरा' ये भाव जब तक हृदय में घर किए हुए होते हैं तब तक वह व्यक्ति धर्म प्राप्ति का योग्य पात्र नहीं है। अतः धर्म का योग्य पात्र बनने के लिए पर-निन्दा का परिहार करना चाहिए।

अतः अधिक द्वार वाले मकान का निषेध किया गया है। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ को स्थान और मकान की पसन्दगी में दूरदर्शिता से काम लेना चाहिये ताकि वह सन्तोष पूर्वक धर्म की आराधना कर सके।

(८) सदाचारियों की संगति :— जीवन के उत्थान और पतन में संगति एक महत्त्वपूर्ण कारण है। संगति का असर पड़े बिना नहीं रहता है। इसलिए अपना विकास चाहने वाले व्यक्ति को अपने से अधिक सदगुणी व्यक्तियों की संगति में रहना चाहिए। ऐसा करने से गुणों वृद्धि होती है। मानव, सामाजिक प्राणी है। वह अकेला रहना प्रसन्द नहीं करता। उसे किसी का साथ अवश्य चाहिए। साथ रहना बुरा नहीं है परन्तु साथी का चुनाव करने में बुद्धिमत्ता से काम लेना चाहिए। सदाचारी पुरुषों की संगति मिल जाती है तो जीवन का उत्थान हो जाता है। यदि दुर्दैव से दुष्टों की संगति मिल जाय तो पतन अवश्यंभावी है। काजल की कोठरी में सावधानी पूर्वक जाने पर भी कहीं न कहीं काला दाग लगे बिना नहीं रह सकता है। इसी तरह स्वयं सावधान होते हुए भी यदि [illegible] तो वह किसी समय में डूबने वाली होती है। [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

चाहिये। ऐसा करने से दोषों का ह्रास और सद्गुणों का विकास होता है और सत्य धर्म के आगमन की पात्रता प्राप्त होती है।

(९) मातृ-पितृ-भक्ति :— जन्म देने वाले माता-पिता की भक्ति करना सद् गृहस्थ का मुख्य कर्त्तव्य है। माता-पिता का सन्तान पर असीम उपकार होता है। वे उसके जन्म-दाता हैं पालन-कर्ता हैं और दुखों से बचाने वाले त्राता हैं। वे स्वयं विविध कष्ट उठाकर, टट्टी-पेशाब कर देने पर भी घृणा न लाकर और अपने हृदय को अनुराग को बरसा कर सन्तान का पालन करते हैं। उसे संसार-व्यवहार के योग्य बनाते हैं। अबोध अवस्था से सयाना बनाते हैं। इस उपकार का क्या कोई पार है? ऐसे परमोपकारी माता-पिता की भक्ति करना सन्तान का प्राथमिक कर्त्तव्य है। अपने जीवन-दाता माता पिता की आज्ञाओं का पालन करना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना, वृद्धावस्था में उनकी भक्तिपूर्वक सार-संभाल करना, उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना और उन्हें सब तरह संतुष्ट करना सन्तान का परम धर्म है।

जो व्यक्ति मूंछ आजाने के बाद माता-पिता की पूछ नहीं करते, या स्त्री के वशवर्त्ती होकर उनकी अवहेलना करते हैं या किसी भी प्रकार से उनका अविनय और तिरस्कार करते हैं, वे मानव नहीं पशु से भी अधम हैं। परमोपकारी माता-पिता के अनन्त और असीम उपकारों का नीच व्यवहारों से बदला चुकाना भारी कृतघ्नता है।

स्थानांक सूत्र में माता-पिता के ऋण से उ ऋण होना दुष्कर बताया गया है। कहा गया:—

तिण्हं दुप्पडियारो समणाउसो! तंजहा— अम्मापिउणो

[illegible]
[illegible] सव्वालंकारविभूसियं [illegible]
[illegible] अट्ठारस वंजणाकुलं भोयणं भोयावेत्ता [illegible]
[illegible] तेणावि तस्स अम्मापिउस्स
दुप्पडियारं भवई। अहे णं से तं अम्मापियरं केवली [illegible]
आघवइत्ता पण्णवित्ता परूवित्ता ठावित्ता भवति, तेणामेव तस्स
सुप्पडियारं भवति समणाउसो।

(स्थानाङ्ग सूत्र त्रिस्थानक का प्रथम उद्देशक)

अर्थात्– "हे साधुओ ! तीन के उपकार का बदला चुकाना कठिन है, जैसे कि– माता पिता का, स्वामी (पोषक) का और धर्माचार्य का। यदि कोई पुरुष प्रति दिन प्रातःकाल माता-पिता को शतपाक-सहस्रपाक तैल की मालिश कर, सुगन्धित उबटन लगाकर गन्धोदक उष्णोदक और शीतोदक से स्नान कराकर, सब अलंकारों से विभूषित करके मनोज्ञ, भलीभांति पकाया हुआ, अठारह व्यञ्जनों से युक्त भोजन कराकर, जीवन पर्यन्त कावड़ में बैठाकर कंधे पर धारण कर फिरता रहे तो भी वह माता-पिता के उपकार का बदला नहीं चुका सकता है। यदि वह माता-पिता को केवलि प्ररुपित धर्म समझा कर उसमें स्थापित करने में समर्थ होता है तभी वह उनके ऋण से उऋण हो सकता है।"

उक्त आगम-पाठ से माता-पिता के उपकारों की गुरुता और उनकी सेवा-शुश्रूषा करना स्वयं सिद्ध है। 'अम्मापिउस्स सुस्सूसगा' कह कर उववाई सूत्र में माता-पिता की सेवा करना सन्तान का धर्म बताया गया है। अन्यत्र भी कहा गया है:–

मातृदेवो भव पितृदेवो भवः।

माता और पिता को देवता तुल्य समझकर उनकी सेवा-भक्ति ारनी चाहिए। उनको त्रिकाल नमस्कार करना चाहिए। ाभ्युत्थान आदि से उनका सन्मान करना चाहिए। उनका ावर्णवाद कभी नहीं सुनना चाहिए। उनकी आज्ञा से ही प्रत्येक ावृत्ति करनी चाहिए। कोई श्रेष्ठ और नवीन वस्तु मिलने पर ाथम भेंट करनी चाहिए। उन्हें प्रथम भोजन कराकर बाद में ्वयं भोजन करना चाहिए। इस प्रकार विविध रीति से उनका ावनय करना चाहिए।

अनन्त उपकारी माता-पिता के ऋण से उऋण होने का शास्त्रकार ने एक ही उपाय बताया है। वह है- उन्हें धर्म-कार्य में स्थापित करना। पारलौकिक प्रवृत्तियों में प्रेरणा करने और उनमें सहायभूत होने से सन्तान माता-पिता के ऋण से उऋण हो सकती है। यह उत्कृष्ट भक्ति है। धर्माभिमुख होने वाले व्यक्ति के लिए माता-पिता की भक्ति करना आवश्यक गुण है। जो माता-पिता की उचित भक्ति नहीं कर सकता वह धर्म की आराधन कैसे कर सकेगा? अतः मार्गानुसारी को मातृ-पितृ-पूजक होना चाहिए।

(१०) **संकटग्रस्त स्थान का परिहार:-** जो स्थान उपद्रव-ग्रस्त हो उसको छोड़ देना गृहस्थ का सामान्य आचार है। जहाँ स्थानीय राज्य या परराज्य का उपद्रव हो, दुर्भिक्ष और महामारी फैली हुई हो, अतिवृष्टि-अनावृष्टि टिड्डी आदि के उपद्रवों से अशान्ति व्याप्त हो, अथवा किसी अन्य प्रकार के उपद्रवों का बोलबाला हो, ऐसे ग्राम, नगर या प्रान्त को छोड़कर अन्यत्र सुरक्षित स्थान में चला जाना गृहस्थ का सामान्य धर्म है। क्योंकि यदि अशान्तिमय स्थान का त्याग न किया जाय तो चित्त में सदा चिन्ता और भय छाया रहता है जिससे नवीन धर्म-अर्थ-काम का उपार्जन नहीं हो

[illegible] के विनाश को [illegible] करती है। इससे उभयलोक सम्बन्धी अनिष्ट होता है। अतएव [illegible] स्थान का परित्याग कर देने में ही सुरक्षा और शान्ति है। अतएव यह गृहस्थ का सामान्य धर्म बताया गया है।

(११) गर्हित कार्यों में अप्रवृत्तिः- देश, जाति और कुल की अपेक्षा से और ऐहलौकिक और पारलौकिक दृष्टि से जो कार्य निन्दित समझे गये हैं उनमें कदापि प्रवृत्ति न करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। मद्य पीना या मद्य का व्यापार करना, मांस का सेवन करना, पर स्त्री-गमन करना, जूवा खेलना, देश-जाति और कुल का द्रोह करना, विश्वासघात करना इत्यादि गर्हित कार्यों में रंच मात्र भी प्रवृत्ति न करना मार्गानुसारी का कर्त्तव्य है। उत्तम कुल या जाति में जन्म लेने मात्र से बड़प्पन या माहात्म्य नहीं प्राप्त हो जाता है बल्कि शुद्ध आचार का पालन और गर्हित कृत्य का परित्याग करने से महत्व प्राप्त होता है। कहा है:—

न कुलं वृत्तहीनस्य, प्रमाणमिति मे मति।
अन्त्येष्वपि हि जातानां, वृत्तमेव विशिष्यते॥

चारित्र हीन पुरुष यदि उच्चकुल में भी पैदा हुआ हो तो वह महत्व प्राप्त नहीं कर सकता और नीचकुल में उत्पन्न होने पर भी यदि वह सदाचारी है तो वह महत्व को प्राप्त करता है। गुणों में प्रवृत्ति और गर्हित में अप्रवृत्ति करना धर्म का अधिकारी बनने की पात्रता प्राप्त करना है।

(१२) आयोचित व्ययः— आय के अनुसार व्यय करना गृहस्थ का सामान्य आचार है। गृहस्थाश्रम को सुख पूर्वक चलाने के लिए गृहस्थ को अपने आय-व्यय का दूरदर्शिता से पर्यालोचन करना

चाहिए। जो गृहस्थ अपनी आमदानी का विचार किये विना ही अन्धाधुन्ध व्यय करता है वह थोड़े ही दिनों में निर्धन वन जाता है। निर्धन बन जाने पर उसके गृहस्थोचित व्यवहार विलुप्त हो जाते हैं। नीति शास्त्र में कहा है:—

आय-व्ययमनालोच्य, यस्तु वैश्रवणायते।
अचिरेणैव कालेन, सोऽत्र वै श्रवणायते॥

जो गृहस्थ आय-व्यय का विचार किये विना कुवेर के भंडारी के समान वनता है वह थोड़े ही काल में श्रवण मात्र शेष रह जाता है अर्थात् 'वह धनवान था' ऐसी कथा मात्र शेष रह जाती है।

जिस कूप में जल का आगमन अल्प और निर्गमन अधिक है, वह निर्जल हुए विना नहीं रहता है। इसी तरह जिस गृहस्थ की आमदनी अल्प और खर्च अधिक हैं तो वह निर्धन हुए विना नहीं रहता। जिस प्रकार रोग शरीर को कृश कर देते हैं उसी प्रकार आय से अधिक किया हुआ व्यय वैभव को कृश कर देता है। इस कारण वह अधिक व्यय करने वाला कर्ज में फंस जाता है और उसकी सारी प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती है। ऐसे व्यक्ति की साख नहीं रहती। उसका विश्वास उठ जाता है। अतः विवेकी गृहस्थ को इस वात का पूरा २ ध्यान रखना चाहिए कि उसका खर्च अपनी आमदनी के अनुसार ही हो। यदि आमदनी थोड़ी है तो खर्च भी मर्यादित ही करना चाहिए। दूसरों की देखा-देख या झूठी प्रतिष्ठा के लोभ में पड़ कर अधिक खर्च करना निर्धनता और मान हानि को निमंत्रण देना है।

नीति शास्त्र में कहा गया है कि धन की आमदनी के चार विभाग करने चाहिए। एक भाग घर में जमा रखना चाहिए, एक

भाग व्यापार में लगाना चाहिए, एक भाग धर्म कार्य में लगाना चाहिए और एक भाग कुटुम्ब के भरण-पोषण के काम में लाना चाहिए। अतः विवेक सम्पन्न गृहस्थ का यह कर्त्तव्य है कि वह आय और व्यय का विचार करके गृह-व्यवहार का संचालन करे। गृहस्थ पर कौटुम्बिक और धार्मिक विविध जवाबदारियां होती हैं उन सबका उसे विवेक पूर्वक पालन करना चाहिए। कुटुम्ब का पोषण, शिक्षण, विवाह, अन्य रीति-रिवाज तथा शुभ कार्यों का निर्वाह गृहस्थ की आमदनी से ही होता है। अतः गृहस्थ को सर्वत्र विवेक से काम लेना चाहिए।

आयोचित व्यय के बहाने गृहस्थ को कंजूस भी नहीं होना चाहिए। उसे अपनी आय के अनुसार शुभ कार्यों में व्यय करना चाहिए। जिस कूप में जल का आगमन हो आगमन हो और निर्गमन न हो उसका जल दुर्गन्ध देने वाला हो जाता है. वह काम का नहीं रहता। इसी प्रकार जो गृहस्थ धन का संग्रह ही संग्रह किये जाता है और शुभ कार्यों में उसका उपयोग नहीं करता है, उसका धन निकम्मा होकर दुर्गुण और अपाय पैदा करने वाला होता है। अतः गृहस्थ को आय का विचार करके शुभ कार्यों में अपने द्रव्य का सदुपयोग करना चाहिये। गृहस्थ को न अमर्यादित व्यय करने वाला और न अमर्यादित संग्रह करने वाला होना चाहिये, अपितु आय के अनुसार व्यय करने वाला होना चाहिए। ऐसा करने से ही धर्म-कर्म व्यवहार सुचारु रूप से चल सकता है।

(१३) **उचित पोशाक** :- साधारण तौर पर व्यक्ति की वेशभूषा उसके व्यक्तित्व का परिचय देने वाली होती है। प्रथम-बाह्य दृष्टि से वेशभूषा से ही व्यक्ति के प्रभाव का परिचय प्राप्त हो जाता है। इसलिए व्यक्ति के लिए पोशाक का कम महत्त्व नहीं है। इस दृष्टि

से मार्गानुसारी के गुणों में उसके पोशाक की भी गणना की गई है। गृहस्थ को अपनी वेश-भूषा वैभव, जाति, देश और काल के अनुसार रखनी चाहिए। श्री हरिभद्र सूरि ने धर्म विन्दु प्रकरण में कहा है :—

तथा— विभवाद्यनुरूपो वेषो विरुद्धयात्गेनेति ।

अर्थात्-वैभव, वय, काल और जलवायु आदि संयोगों के अनुकूल हो, मर्यादा के प्रतिकूल न हो एवं उपहास का कारण न हो ऐसी वेश-भूषा रखना गृहस्थ का आचार है। विभवानुसार का तात्पर्य है कि जिस व्यक्ति का जीवन-स्तर (Living Standerd) जिस कोटि का हो उसी के अनुसार उसको पोशाक होनी चाहिए। जैसे किसी व्यक्ति की आमदनी थोड़ी है तो उसे उसके अनुसार ही अल्प मूल्य वाले वस्त्र पहनने चाहिए। यदि वह ऐसा न करके बहुमूल्य वस्त्र पहिनेगा तो अन्य गृहस्थोचित कर्त्तव्यों को भलीभांति निभा नहीं सकेगा। क्योंकि उसकी थोड़ी आमदनी का बहुतसा भाग फैशनेबल बहुमूल्य वस्त्रों में ही पूरा हो जाएगा तो अन्य कर्त्तव्यों के लिए द्रव्य कैसे बचेगा? इसलिये या तो वह अपने उत्तरदायित्व को पूरा नहीं कर सकेगा या कर्ज आदि में फंस जाएगा। अतः गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह फैशन में लुब्ध न हो और अपने विभव के अनुसार ही अपनी वेश-भूषा रक्खे। विभव के अनुसार वेश-भूषा रखने का यह भी तात्पर्य नहीं कि वेश-भूषा में ही अपने सारे वैभव का प्रदर्शन कर दिया जाय। कई श्रीमन्त स्त्री-पुरुष अपने शरीर को सोने-चांदी के गहनों से लादकर और नित्य नये चटकीले-भड़कीले वस्त्रों से सजाकर अपने वैभव का प्रदर्शन करते हैं। सच्चे सद् गृहस्थ का यह कर्त्तव्य नहीं है। वह अपने वैभव का प्रदर्शन करने के लिए पोशाक नहीं पहनता है अपितु मर्यादा के रक्षण के लिए उचित पोशाक धारण करता है।

पोशाक का वय के साथ भी सम्बन्ध है। बालकों को रंग-रंगीली वस्त्र फबते हैं लेकिन वयस्कों को वे शोभा नहीं देते। यदि वयस्क भी रंग-रंगीले वस्त्र पहनते हैं तो वे विदूषक या बहुरुपिये की तरह उपहास के पात्र होते हैं। अतः गृहस्थ का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी वय का विचार कर फबने वाली पोशाक धारण करे ताकि उपहास का पात्र न हो।

काल के साथ भी पोशक का गहरा सम्बन्ध है। किसी समय जो चीज शोभास्पद होती है वही दूसरे समय उपहासास्पद हो जाती है। शीतकाल के योग्य गरम वस्त्र यदि ग्रीष्म ऋतु में पहन लिये जाँय तो वे शरीर को हानि पहुंचाने के साथ ही साथ उपहासास्पद भी हो जाते हैं। इसी तरह ग्रीष्म ऋतु में पहनने योग्य मलमल के वस्त्र यदि कड़कती ठंड में पहने जाँय तो शरीर को आराम भी नहीं पहुंचता और हंसी भी होती है। अतः काल के अनुसार पोशाक धारण करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है।

गृहस्थ को ऐसी पोशाक धारण करनी चाहिए जो जलवायु के अनुकूल हो। शीतप्रधान देशों में शीत की अधिकता के कारण बदन पर बनियान, कमीज, वेस्टकोट, कोट आदि अनेक वस्त्र प्रभृति अनेक वस्त्र पहने का प्रचलन है। भारत उष्णप्रधान देश है। उसमें अधिक वस्त्र पहना हितकर नहीं है फिर भी पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण के कारण यहां भी एक के ऊपर दूसरा, दूसरे पर तीसरा, तीसरे पर चौथा, यों अनेक वस्त्रों को पहने की फैशन चल पड़ी है। विवेक सम्पन्न गृहस्थ का यह कर्त्तव्य है कि वह फैशन में अन्धा न होकर लाभालाभ का विचार करे और जलवायु के अनुसार पोशाक को पसन्दगी करे।

पोशाक के चुनाव में अपनी संस्कृति और देशाचार का भी

र्याप्त ध्यान रखा जाना चाहिए। अपने देश में जो पोशाक ाष्ट्-जन-सम्मत हो अथवा जो राष्ट्रीय पोशाक हो उसे धारण रना चाहिए। ऐसी वेश-भूषा कदापि अंगीकार नहीं करनी ाहिए जिससे जाति, धर्म और राष्ट्र का द्रोह होता हो। विदेशी ाभ्यता का अन्धानुकरण करके विदेशी वेश-भूषा धारण करना पने देश के प्रति द्रोह करना है।

सद्गृहस्थ को शुद्ध, स्वदेशी और अल्प-आरम्भ से उत्पन्न स्त्रों का ही उपयोग करना चाहिये। विदेशी वस्त्रों के उपयोग ते देश का धन बाहर चला जाता है और देश निर्धन बन जाता है अतः राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अपने देश में बने हुए वस्त्रों का उपयोग करना ही गृहस्थ का कर्त्तव्य है। इसके विपरीत आचरण करने से देश के प्रति द्रोह होता है। देश-द्रोह करना सद्गृस्थ का कर्त्तव्य नहीं है। इसी तरह जिन वस्त्रों के उत्पादन में महा-आरम्भ होता है त्रसजीवों का घात होता है, उनका उपयोग सद्गृहस्थ को नहीं करना चाहिए। वह धर्म के अभिमुख होना चाहता है अतः उसे अधिक पाप से उत्पन्न हुए वस्त्रों का त्याग करना चाहिए। तभी वह धर्माभिमुख हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि शुद्ध, अल्प आरम्भ से उत्पन्न, देश-काल के अनुकूल और मर्यादायुक्त पोशाक धारण करना गृहस्थ का कर्त्तव्य हैं। छैलछबीलों या छाकटों की तरह मर्यादा-हीन वेश-भूषा का त्याग करना चाहिए। गृहस्थ की पोशाक स्वच्छ, निर्मल और सादगी पूर्ण होनी चाहिए। उसकी पोशाक से ही सात्विकता टपकनी चाहिए। जिसकी पोशाक निर्मल और सात्विक होती है वह पुरुष मंगल मूर्ति कहा जाता है। मंगल से ही श्री की प्राप्ति होती है। मंगलमय पोशाक धारण करना गृहस्थ का सामान्य आचार है।

मार्गानुसारी व्यक्ति धर्म की ओर बढ़ना चाहता है, अतः उसे धर्म-तत्त्व का निर्णय करने की आवश्यकता होती है अगर वह बुद्धिमान् है तो आसानी से तत्त्वनिर्णय कर सकता है और तदनुसार अपना विकास कर सकता है। इसलिए मार्गानुसारी के लक्षणों में इस गुण की भी गणना की गई है। सम्यक् तत्त्वनिर्णय पर ही आगे के विकास या पतन का दार मदार है, अतएव इस गुण का महत्त्व और भी विशेष है।

(१५) दैनिक धर्म श्रवणः—प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनना गृहस्थ का सामान्य आचार है। धर्म-श्रवण करने से दोषों की हानि और गुणों की वृद्धि होती है। धर्म-श्रवण से धर्म एवं कर्त्तव्य आदि के सम्बन्ध में पैदा होने वाली शंकाओं का समाधान हो जाता है और चित्त में धर्माराधन के प्रति उल्लास प्रकट होता है। इससे अनेक गुत्थियों का समाधान हो जाता है। चित्त में ज्ञान का प्रकाश फैलता है जिससे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ठाणाङ्ग सूत्र में धर्म-श्रवण को मोक्ष का मूल कहा गया है।

सवणे, णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संयमे।
अणण्हए तवे चेव वोदाणे अकिरिय निव्वाणे॥

मार्गानुसारी व्यक्ति धर्म की ओर बढ़ना चाहता है अतः उसे धर्म-तत्त्व का निर्णय करने की आवश्यकता होती है अगर वह बुद्धिमान् है तो आसानी से तत्त्वनिर्णय कर सकता है और तदनुसार अपना विकास कर सकता है। इसलिए मार्गानुसारी के लक्षणों में इस गुण की भी गणना की गई है। सम्यग् तत्त्वनिर्णय पर ही आगे के विकास या पतन का दार मदार है, अतएव इस गुण का महत्त्व और भी विशेष है।

(१५) दैनिक धर्म श्रवण:—प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनना गृहस्थ का सामान्य आचार है। धर्म-श्रवण करने से दोषों की हानि और गुणों की वृद्धि होती है। धर्म-श्रवण से धर्म एवं कर्त्तव्य आदि के सम्बन्ध में पैदा होने वाली शंकाओं का समाधान हो जाता है और चित्त में धर्माराधन के प्रति उल्लास प्रकट होता है। इससे अनेक गुत्थियों का समाधान हो जाता है। चित्त में ज्ञान का प्रकाश फैलता है जिससे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ठाणाङ्ग सूत्र में धर्म-श्रवण को मोक्ष का मूल कहा गया है।

सवणे, णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संयमे।
अणण्हए तवे चेव वोदाणे अकिरिय निव्वाणे॥

अर्थात् धर्म-श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान से संयम, संयम से अनास्रव, अनास्रव से तप, तप से कर्म-क्षय, कर्म-क्षय से अक्रियत्व और अक्रियत्व से निर्वाण होता है। इस आगम-गाथा में धर्म-श्रवण को परम्परा से मुक्ति का कारण कहा गया है। अतएव गृहस्थ को प्रतिदिन प्रीति पूर्वक धर्म का श्रवण करना चाहिए। जिस प्रकार शरीर को प्रतिदिन अन्न दिया जाता है इसी तरह आत्मा को भी आध्यात्मिक खुराक दी जानी चाहिये। प्रतिदिन के धर्म श्रवण से आत्मा को आध्या-

जा सकता है। आंतों की पाचन-शक्ति को अच्छी और चिरकाल
स्थायी बनाने के लिए उन्हें सप्ताह में एक दिन निराहार रहकर
विश्रान्ति अवश्य देनी चाहिए। ऐसा करने से शरीर के अन्दर
की शुद्धि हो जाती है। जो व्यक्ति ऐसा न करके स्वाद की लोलु-
पता के कारण ठूंस-ठूंस कर आहार करता है उसकी आंतों पर
अधिक दबाव पड़ता है जिससे वे भलीभांति अन्न को पचाने में
समर्थ नहीं होतीं। फलस्वरूप अजीर्ण हो जाता है। अजीर्ण हो
पर भी जो लोग आहार की लोलुपता के कारण भोजन करते
जाते हैं वे जान-बूझकर अपने शरीर में विष डालते हैं। उ
प्रसिद्ध ही है।

अजीर्णे भोजनं विषम्।

मनुष्य का जीवन खाने के लिए नहीं है किन्तु जीवन के
खाना है। मगर जो लोग अजीर्ण होने पर भी खाते हैं वे खाने
लिए ही जीते हैं। ऐसे लोग खाने के लिए भी अधिक काल
जिन्दे नहीं रह सकते हैं, क्योंकि वे जान-बूझकर मौत को नज़
बुलाते हैं। अजीर्ण होना ही इस बात की निशानी है कि पहले
खाया हुआ अभी तक जीर्ण नहीं हुआ है, अतः शरीर को आ
की आवश्यकता नहीं है। शरीर में रहे हुए यन्त्र इस बात
अगाही कर देते हैं। फिर भी जो आहार के लोलुप पेट में
डालते हैं वे रोग और मृत्यु को निमंत्रण देते हैं। धर्म का प्र
जीवन के लिए खाता है न कि खाने के लिए जीता है। अतः
अजीर्ण होने पर कदापि आहार करने की भूल नहीं कर सकता
स्वाद और आहार का लोलुप धर्म के आराधन का पात्र नहीं
सकता, इस लिए मार्गानुसारी को स्वाद का लोलुपी नहीं ह
चाहिए और स्वाग यथा संभव सप्ताह में एक दिन निरा

करता है। वह उदुम्बर, गूलर आदि तुच्छ फलों को त्याग देता है। उसे भक्ष्य और अभक्ष्य का पूरा विवेक होता है।

सद्गृहस्थ को स्वाद का लोलुपी नहीं होना चाहिए। जो स्वाद का लोलुपी होता है वह भक्ष्य और अभक्ष्य का विवेक नहीं कर सकता। इसलिए वह अंटशंट, अडंग-वडंग कई तरह की चीजें विवेक हीन होकर खाता है। स्वाद के वश होकर मर्यादा से अधिक खाता है। वह समय-असमय की परवा न करके खाने में अमर्यादित बनता है। ऐसा व्यक्ति अपने स्वास्थ्य की भी हानि करता है और धर्म की भी हानि करता है। इस लिए सद्गृहस्थ को स्वाद पर विजय पाना चाहिए। जो व्यक्ति स्वाद पर विजय पा लेता है वह सदा सात्विक ही आहार करता है।

सद्गृहस्थ को नियमित समय पर प्रमाणोपेत आहार करना चाहिए। मार्गानुसारी उचित समय पर आहार करता है। अर्थात् जब उसे क्षुधा प्रतीत होती है तब भोजन करता है भूख के बिना स्वाद के निमित्त वह नहीं खाता भूख लगने पर भोजन करना ही लाभ दायक है। बिना भूख के अमृत खाना भी विषतुल्य हो जाता है। भूख मालूम होने पर सब कार्यों को छोड़कर भोजन करना चाहिए क्योंकि बाद में भूख मर जाती है और अन्न पर अरुचि हो जाती है। लोभ आदि के वश होकर भोजन के समय को चूकना नहीं चाहिए। अपनी शारीरिक-प्रकृति को देखकर भोजन का समय नियत कर लेना चाहिए और उस समय का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। सद्गृहस्थ को दिन के समय में ही भोजन की क्रिया समाप्त कर लेनी चाहिए। रात्रि में भोजन करना स्वास्थ्य और धर्म की दृष्टि से हानिकारक है। सूर्य के प्रकाश में ही भोजन से निवृत हो जाना शारीरिक स्वाथ्य के लिए

पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए प्रयत्न करना गृहस्थ का आचार है। इन तीनों में परस्पर बाधा न हो, इस तरह इनका साधन करना चाहिए। ये तीनों पुरुषार्थ परस्पर संकालित और एक सूत्र में गुम्फित हों तो गृहस्थाश्रम की शोभा होती है। जैसे एक सूत्र में पिरोये हुए मोती हार के रूप में कण्ठ की शोभा बढ़ाने वाले होते हैं, वैसे ही परस्पर सम्बद्ध ये तीनों पुरुषार्थ गृहस्थ के लिए भूषण-रूप होते हैं। यदि गृहस्थ इन तीन में से किसी एक की भी उपेक्षा करता है तो वह सद्गृहस्थ नहीं कहला सकता। सद्गृहस्थ का अर्थोपार्जन और काम-पुरुषार्थ भी इस रूप में होता है कि वह धर्म का बाधक न हो। इसी तरह उसका धर्म पुरुषार्थ भी इस रूप में होता है कि वह उसके अर्थ और काम पुरुषार्थ का बाधक न हो। अर्थ और काम को छोड़कर केवल धर्म पुरुषार्थ की साधना करना साधु का काम है। गृहस्थ को तो अर्थ और काम पुरुषार्थ की भी साधना करनी होती है। इसी तरह यदि गृहस्थ धर्म को छोड़कर केवल अर्थ की या काम की साधना करता है तो वह अनिष्ट और अकल्याण का भागी होता है। धर्म को छोड़कर धन एकत्रित करने वाला अन्तिम समय में जब यह देखता है कि उसकी अपार धन-राशि में से एक पाई भी उसके साथ आने वाली नहीं है और उसके देखते-देखते बड़े कष्ट से कमाये हुए धन का दूसरा मालिक बन जाता है तब वह अपना मस्तक धुनता हुआ पश्चात्ताप करता है कि 'हाय ! मैंने धन का न तो धर्म मे ही उपयोग किया और न उपभोग ही किया।' वह पश्चात्ताप और पाप के फल का ही भागी होता है। इसी तरह जो व्यक्ति धर्म और अर्थ को छोड़कर केवल काम की उपासना करता है वह कभी सफल और सुखी नहीं हो सकता। कामी व्यक्ति अन्धा होता है। वह पतन के गर्त्त में और विनाश के मुख में पड़े बिना नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति इन तीनों का समन्वय न करके अलग २ परस्पर निरपेक्ष

रूप से आराधन करता है, वह गृहस्थ पद का अधिकारी नहीं है। वह कदापि पुरुषार्थ की सिद्धि में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है। अतः विवेकी सद्गृहस्थ को तीनों पुरुषार्थों का समन्वय करके उनकी सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

गृहस्थाश्रमी को अर्थ और काम की साधना करनी होती है लेकिन वह धर्म की उपेक्षा करके नहीं होनी चाहिए। गृहस्थ का अर्थोपार्जन धर्म के लिए ही होता है। 'धर्मार्थमर्जयेत्' अर्थात् धर्म के लिए ही अर्थ का उपार्जन होना चाहिए। गृहस्थ का काम पुरुषार्थ भी गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य का पालन करने के लिए ही होता है। विषय वासना की पूर्त्ति के लिए नहीं सारांश यह है कि गृहस्थ का अर्थार्जन भी धर्म पूर्वक ही होना चाहिए और उसका काम-सेवन भी धार्मिकता को बाधा पहुंचाने वाला नहीं होना चाहिए। इस तरह धर्म, अर्थ और काम का परस्पर उपघात न हो इस रीति से इनका साधन करना गृहस्थ का आचार है। कदाचित् ऐसा प्रसंग उपस्थित हो कि इनमें से किसी को बाधा होने की सम्भावना हो तो मूल पुरुषार्थ को बाधा नहीं पहुंचानी चाहिए। काम की हानि और उसके बाद अर्थ की हानि सहन कर लेनी चाहिए परन्तु धर्म की हानि नहीं होने देना चाहिए। क्योंकि धर्म मुख्य और परलोक का साथी है। इसलिए सब प्रकार की हानि सहन करके भी धर्म की रक्षा करना चाहिए। रक्षित किया हुआ धर्म स्वयं रक्षक हो जाता है। कहा है :—

धर्मो रक्षति रक्षितः।

सार यही है कि गृहस्थ को तीनों पुरुषार्थों का समन्वय करके परस्पर बाधा न हो इस रीति से उनका साधन करना चाहिए।

इस प्रकार पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए प्रयत्न करने वाला व्यक्ति सत्य या आत्मिक धर्म के आराधन का पात्र होता है।

(१६) अतिथि-साधु और दीन की सेवा :- जिस प्रकार कृषक क्षेत्र में बीज बोने के पहले उसे जल से आर्द्र करते हैं, क्योंकि सूखे क्षेत्र में डाला हुआ बीज अंकुरित नहीं हो सकता। इसीतरह धर्म रूपी बीज भी भक्ति, श्रद्धा और सहानुभूति रूपी जल से आर्द्र हृदय रूपी क्षेत्र में ही अंकुरित होता है। इसलिए मार्गानुसारी का हृदय श्रद्धा और सहानुभूति से भरा हुआ होना चाहिए। उसे अतिथि और साधुजनों के प्रति श्रद्धा और बहुमान होना चाहिए। उनका यथोचित सत्कार और सन्मान करना चाहिए। अपने माने हुए देव (अर्हन्) के प्रति उसका हृदय भक्ति से पूर्ण होना चाहिए। देव और साधु पुरुषों की यथायोग्य सेवा-भक्ति करने से तन, मन और वाणी पवित्र होती है, हृदय की कलुषता का नाश होता है और अनेक गुणों की प्राप्ति होती है।

गृहस्थ का हृदय सहानुभूति और करुणा से भरा हुआ होना चाहिए। दीन, अनाथ और अपङ्ग जीवों के प्रति उसके हृदय से करुणा और अनुकम्पा की धारा फूट पड़नी चाहिए। अपनी शक्ति के अनुसार उनके दुःखों को दूर करने और उन्हें शान्ति देने के प्रयास करने चाहिए। ऐसा करने से हृदय सदय और सरस बनता है। सदय और सरस हृदय में ही धर्म अङ्कुरित और पल्लवित हो सकता है। दीन-अनाथों की उपेक्षा करना गृहस्थ के आचार के विपरित है। जो गृहस्थ उनकी उपेक्षा करता है उसका हृदय नीरस और कठोर बन जाता है। नीरस और कठोर हृदय में धर्म का अंकुर नहीं जम सकता। अतएव गृहस्थ का यह आचार है कि वह दीनों के प्रति करुणामय व्यवहार करे, अभ्यागत और गृहागत

[illegible] और आदर
को आवश्यकता हो । [illegible] और [illegible]
[illegible] चाहिए । देव, अतिथि, साधु आदि की यथोचित [illegible]
[illegible] उनकी मर्यादा के अनुरूप सेवा भक्ति करनी चाहिए। और
[illegible] के यदि भी औचित्य का ध्यान रखकर तदनुसार दान-मान
आदि से उन्हें संतुष्ट करना चाहिए । दान-मान आदि में औचित्य
का बड़ा महत्त्व है । कहा भी है :—

> औचित्यमेकमेकत्र गुणानां राशिरेकतः ।
> विषायते गुणग्राम औचित्य परिवर्जितः ॥

एक तरफ केवल औचित्य हो और दूसरी तरफ गुणों की राशि हो तो भी औचित्य का विशेष महत्त्व है । औचित्य के बिना गुण-गण भी विष रूप होते हैं । तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कार्य में औचित्य का विचार पहले होना चाहिए । इस तरह योग्य रीति से देवता अतिथि, साधु और दीनों की सेवा-भक्ति करना गृहस्थ का सामान्य आचार है ।

(२०) कदाग्रह का त्याग.— कदाग्रह विकास को रोकने वाला और पतन की ओर ले जाने वाला भयंकर दुर्गुण है । इसके कारण अनेक व्यक्तियों का विनाश और सर्वनाश हुआ है, यह इतिहास और धर्म-साहित्य से स्पष्ट प्रकट होता है । सत्य के लिए आग्रह होना जितना बड़ा सद्गुण है, असत् प्रवृत्तियों के लिए दुराग्रह होना उतना बड़ा दुर्गुण है । यदि दुराग्रह के मूल का विचार किया जाय तो उसमें अज्ञान एवं अहंकार छिपा हुआ प्रतीत होगा अहंकार एक प्रकार का उन्माद है जो व्यक्ति की विवेक-शक्ति को लुप्त करके उसे बेमान बना देता है । अहंकार के कारण ही व्यक्ति

अपनी मिथ्या बात को भी पकड़े रहता है। अपनी बात को मिथ्या जानते हुए भी वह उससे चिपका रहता है। यही दुराग्रह है। असत्य प्रवृत्तियों के लिए आग्रह रखना जघन्य व्यक्तियों का लक्षण है। जैसा कि कहा गया है:-

दर्पः श्रमयति नो चारिष्फलनय विगुण दुष्कर्णरं भैः।
स्रोतोबिलोमतरण व्यसननिभिरायास्यते मत्स्यैः॥

जिस प्रकार प्रवाह के प्रतिकूल तैरने की इच्छा करने वाली मछलियाँ व्यर्थ ही श्रम करती हैं, वे प्रवाह के विपरीत चलने में समर्थ नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार नीति-विरुद्ध, दुष्कर, असत्य-प्रवृत्तियों का आरम्भ करने वाले नीच व्यक्तियों का कदाग्रह रूप अहंकार उन्हें व्यर्थ ही श्रम-खेद पहुंचाता है। वे अहंकार के कारण नीच प्रवृत्ति करते तो हैं लेकिन कृतकार्य नहीं हो सकते। उनका दुराग्रह सत्याग्रह के सामने सफल नही हो सकता। सीता के सत्याग्रह के सामने रावण के दुराग्रह की निष्फलता इसका ज्वलंत उदाहरण है।

कदाग्रह के कारण नेत्र और बुद्धि पर पर्दा पड़ जाता है। नवीन अवलोकन और नवीन ज्ञान का द्वार बन्द हो जाता है। ऐसे व्यक्ति का उत्थान और विकास नहीं हो सकता। वह आगे न बढ़कर पतन की ओर अग्रसर होता है। क्योंकि आगे बढ़ने का सुधार का मार्ग तो वह अपने कदाग्रह के कारण बन्द कर लेता है तब शेष रह जाता है पतन का मार्ग, उसी पर चलकर अन्ततः वह नष्ट हो जाता है। इस बात का विचार करके विकास के अभिलाषी आत्माओं को कदाग्रह के कीचड़ से बचकर रहना चाहिए।

जो व्यक्ति दुराग्रही नहीं होता है वही सुधार और संस्कार

गुणों में प्रीति धारण करने से उन्हें ग्रहण करने की भावना त्पन्न होती है। जब गुणों को ग्रहण करने की भावना होती है भी धर्म को ग्रहण करने की पात्रता आती है। इसलिए मार्गानुसारी को गुणों का पक्षपाती होना चाहिए। गुणियों को देखते उसके अन्तः करण में हर्ष की हिलोर व्याप्त हो जानी चाहिए। नके प्रति हृदय श्रद्धा से भरजाना चाहिए। उसका मस्तक उनके ानय के लिए झुक जाना चाहिए। गुणों में जब इतना पक्षपात ा तब धर्म-ग्रहण की पात्रता प्रकट होती है।

२२) अदेश और अकाल का परिहार:– गृहस्थ को देश-विरुद्ध ौर काल विरुद्ध क्रियाओं का परिहार करना चाहिए। द्रव्य, क्षेत्र ाल और भाव का विचार करके ही किसी क्रिया का अनुष्ठान रना चाहिए। इन की उपेक्षा करके की जाने वाली क्रिया सार्थक ौर सफल नहीं हो सकती। द्रव्य, क्षेत्र और काल के कारण पथ्य ौर औषधि में भिन्नता होती है। किसी स्थान में किसी काल में ौर किसी अवस्था में जो वस्तु पथ्य होती है वही दूसरे स्थान में ूसरे समय में दूसरी अवस्था में अपथ्य हो जाती है। इसलिए ुशल वैद्य पथ्यापथ्य का निर्देश करते हुए क्षेत्र, काल आदि का ्यान रखता है। उसी तरह द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के प्रभाव े कर्त्तव्य अकर्त्तव्य हो जाते हैं और अकर्त्तव्य कर्त्तव्य हो जाते हैं। अतएव कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करने के लिए द्रव्य, क्षेत्र काल आदि का विचार करना चाहिए। जो कर्म देश और काल के विरुद्ध हो उनका सेवन न करना गृहस्थ का आचार है। देश और काल के विरुद्ध कार्य करने से लोक निन्दा आदि अनेक अनिष्टों की सम्भावना रहती हैं। अतः मार्गानुसारी गृहस्थ को देश और काल के विरुद्ध चलकर कोई कार्य नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार प्रवाह के विरुद्ध तैरकर पार होना दुष्कर है उसी तरह देश

[illegible] ।
[illegible] ॥

कल्याणकारी उपदेश और धर्म के आचरण से पवित्र बने हुए महात्माओं के दर्शन तथा यथाशक्ति विनय का शुभ अवसर—ये सब सन्त सेवा के सुन्दर परिणाम हैं। आध्यात्मिक कल्याण के अभिलाषी व्यक्ति को सन्त-सेवा का आश्रय लेना ही चाहिए।

(२५) आश्रितों का भरण-पोषण.— गृहस्थ पर अपने आश्रित रहे हुए व्यक्तियों के भरण-पोषण की जवाबदारी होती है। अतः उनका भलीभांति से निर्वाह करना गृहस्थ का सामान्य आचार है। कुटुम्ब के वृद्ध माता-पिता, पत्नी, छोटे बालक तथा अन्य सम्बन्धीजनों का एवं सेवक पशु आदि के भरण-पोषण करने का दायित्व गृहस्थ पर है अतएव उनके भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था करना गृहस्थ का सामान्य आचार है जो व्यक्ति इस जवाबदारी का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं करता वह सच्चा गृहस्थ नहीं है। वह धर्म की आराधना करने का पात्र नहीं हो सकता। गृहस्थाश्रम में रहकर गृहस्थाश्रम की जवाबदारियों को

भलीभांति पूर्ण करने वाला व्यक्ति ही धर्म की ऊंची श्रेणी के आराधन का पात्र हो सकता है। जो प्रमाद, निरुद्यम, वेदरकारी या स्वार्थ के कारण गृहस्थ की इस जवाबदारी को पूर्ण करने में भी समर्थ नहीं हैं, वे उच्च श्रेणी के योग्य पात्र कैसे हो सकते हैं? अतएव गृहस्थाश्रम में रहे हुए गृहस्थ का यह प्रधान कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रय में रहने वाले व्यक्तियों का समुचित रूप से भरण-पोषण करे। लौकिक नीति में तो यहां तक कहा गया है कि–

वृद्धौ च मातापितरौ सतींभार्या सुतान् शिशून्।
अप्यकर्मशतं कृत्वा भर्तव्यान् मनुरब्रवीत्॥

अर्थात् मनु कहते हैं कि वृद्ध माता-पिता, सती स्त्री और छोटी उम्र के पुत्रों का सैंकड़ों अकर्म करके भी भरण-पोषण करना चाहिए।

यदि गृहस्थ की आर्थिक परिस्थिति अनुकूल हैं और उसमें अनेकों के भरण पोषण का सामर्थ्य है तो उसे अपने स्वजन के अतिरिक्त अन्य दीन और असहायों का भी पोषण करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है–

चत्वारी ते तात गृहे वसन्तु श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थ धर्मे।
सखा दरिद्रो भगिनी व्यपत्या ज्ञातिश्च वृद्धो विधनःकुलीनः॥

हे बन्धु! गृहस्थ धर्म में सम्पत्ति से युक्त तुम्हारे घर में दीन (दरिद्र) मित्र, सन्ततिहीन बहिन, वृद्ध ज्ञातिजन और निर्धन बना हुआ कुलीन–ये चार तो सदा निवास करें। तात्पर्य यह है कि श्री–सम्पन्न गृहस्थ को अपने नजदीक के सम्बन्धियों का तो भरण-पोषण करना ही चाहिए परन्तु साथ ही मित्र, ज्ञातिजन,

अपने आश्रित वर्ग का सम्यक् प्रकार के भरण पोषण करनें पर भी कदाचित् दैवयोग से कोई आश्रित व्यक्ति निन्दनीय कार्य करने लगे तो उस दशा में गृहस्थ को अपने ज्ञान से निर्णय करने के पश्चात् अपने गौरव की रक्षा करना चाहिए। अर्थात् उस आश्रित व्यक्ति के निन्दनीय कार्य का अनुमोदन न करके उससे अपना सम्वन्धविच्छेद कर देना चाहिए ऐसा करना गृहस्थ का आचार है।

सारांश यह है कि गृहस्थ का यह सामान्य आचार है कि वह अपने आश्रित रहने वाले वृद्ध माता-पिता, स्त्री-पुत्र, सेवक, नौकर-चाकर, पशु आदि का समुचित रूप से भरण-पोषण करे। उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखें। उनके साथ मर्यादापूर्ण व्यवहार करे। गृहस्थाश्रम के इस दायित्व को जो व्यक्ति भली-भांति समझकर निभाता है वही उच्च धर्म के आराधन का पात्र हो सकता है। अतः अपने आश्रितों का भरण-पोषण करना मार्गानुसारी का गुण बतलाया गया है।

(२६) **दीर्घदर्शीः**—गृहस्थ को दीर्घदर्शी होना चाहिए। प्रत्येक कार्य को आरम्भ करने से पहले भूतकाल, वर्त्तमानकाल और भविष्य काल पर लम्बी दृष्टि डालना और उससे होने वाले लाभ एवं हानि का पूरा पूरा विचार करना दीर्घदर्शिता है। जो गृहस्थ दीर्घदर्शी होता है वह प्रायः अनर्थों का शिकार नहीं बनता। इसके विपरीत जो दीर्घदर्शी नहीं है बिना सोचे-समझे कार्य आरम्भ कर देता है वह प्रायः विषम परिस्थिति में फस जाता है। कहा भी है:—

[illegible]

(२७) विशेषज्ञ:-विशेषज्ञ का अर्थ है भेदज्ञान वाला। कर्तव्य
और अकर्तव्य में धर्म और अधर्म में, हेय और उपादेय में, कार्य
और अकार्य में, सत् और असत् में भेद कर सकने वाला-विवेक
करने वाला विशेषज्ञ कहलाता है। धर्म की ओर बढ़ने वाले व्यक्ति
का यह कर्तव्य है कि वह इस अन्तर को पहचाने। जो इस भेद
को नहीं जानता है वह पशु के समान है। जो हीरे और काच में
या पीतल और सोने में, भेद नहीं कर सकता वह जौहरी या
सर्राफ नहीं हो सकता। इसी तरह जो व्यक्ति कर्तव्य और
अकर्तव्य में सत् और असत् में, पाप और पुण्य में, शुभ और
अशुभ में भेद नहीं कर सकता है वह धर्म के आराधन की योग्यता
नहीं रखता है। सच्चे भेद-ज्ञान की योग्यता जब तक नहीं आती

है। जो सद्गुणी होता है वह अपने आप लोक-वल्लभ बन जाता है। गुणी व्यक्ति का गुण-सौरभ ही [illegible] भ्रमर को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। कहा गया है:--

प्रसून यों ही न मिलिन्द-वृन्द को, विमोहता औ' करता विमुग्ध है।
वरंच प्यारा उसका सुगन्ध ही उसे बनाता वह प्रीति-पात्र है॥

फूल की ओर भ्रमर-गण यों ही आकर्षित नहीं होते मगर फूल की भीनी-भीनी सुगन्ध ही भ्रमरों को अपनी ओर आकृष्ट करती है। इसी तरह सद्गृहस्थ में ऐसे सद्गुण होते हैं जिनकी वजह से वह स्वतः लोकवल्लभ हो जाता है।

जो व्यक्ति अपनी गुण-गरिमा से लोक वल्लभ होता है वह भलीभांति धर्म का आराधन कर सकता है और अपनी लोक-प्रियता के कारण दूसरों को भी सन्मार्ग पर ला सकता है। जो लोकोपयोगी शुभ कार्यों में सहयोग प्रदान करता है, जो लोक-हित के लिए त्याग और बलिदान करता है, जो लोक-कल्याण के लिए अपने स्वार्थों का परित्याग करता है वही लोक-प्रिय हो सकता है। अतएव ऐसे शुभ कार्यों के द्वारा सद्गृहस्थ को लोक-वल्लभ होना चाहिए। इससे इहलोक और परलोक में कल्याण की प्राप्ति होती है।

(२०) लज्जा सम्पन्न :-- सद्गृहस्थ को लज्जा-सम्पन्न होना चाहिए। लज्जा का अर्थ पाप-कर्म में प्रवृत्ति करते हुए संकोच करना है। जो गृहस्थ लज्जालु होता है वह पाप-प्रवृत्ति से बचता रहता है। निर्लज्ज पुरुष निश्शंक होकर पाप करता है। उसे नीच प्रवृत्ति करते हुए शर्म नहीं आती। जो गृहस्थ लज्जालु होता है वह अपनी लज्जा की रक्षा के लिए पाप-प्रवृत्ति में प्रवृत्त नहीं होता। लज्जा दोषों से बचाने वाली और गुणों को बढ़ाने वाली है। इस

लज्जा के कारण कई व्यक्ति पतन के गर्त्त में गिरने से बचे हैं, बचते हैं और बचते रहेंगे। कहा भी है :—

> लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा-
> मत्यन्त शुद्ध हृदयामनु वर्त्तमानाम्।
> तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति
> सत्यव्रत व्यसनिनः न पुनः प्रतिज्ञाम्॥

जिस प्रकार माता अपने बालक को विविध संकटों से रक्षा करती है उसी तरह लज्जा भी दुर्गुणों से बचाती है और गुण-समुदाय को जन्म देती है अपनी लज्जा की रक्षा के लिए तेजस्वी और सत्यरसिक जन प्राणों का त्याग कर देते हैं परन्तु अपनी प्रतिज्ञा से विचलित नहीं होते। तात्पर्य यह है कि लज्जा गुणों का पोषण करने वाली और दुर्गुणों से बचाने वाली है। लज्जा-सम्पन्न पुरुष ही धर्म के पात्र हो सकते हैं। जो निर्लज्ज होकर प्रवृत्ति करते हैं वे धर्म के अधिकारी नहीं हो सकते। लज्जालु आत्मा ही धर्म के आराधन के योग्य होते हैं।

(३१) दयालुः— दया धर्म का प्राण है। दया से रहित धर्म, धर्म नहीं है। वह धर्म की विडम्बना मात्र है। जो व्यक्ति धर्म का आराधन करना चाहता है उसका हृदय दयालु होना चाहिए। दुखी जीवों को देखकर करुणा से ओत-प्रोत हो जाने वाला व्यक्ति ही धर्म का पात्र हो सकता हैं। जो दुखियों के दुःख को देखकर द्रवित नहीं होता वह कठोर हृदय वाला व्यक्ति धर्म का आराधन नहीं कर सकता। अतएव मार्गानुसारी को दुखियों पर दया करने वाला, उनके साथ सहानुभूति रखने वाला और उनके प्रति संवेदना प्रकट करने वाला होना चाहिए। ऐसा करने से सत्य-धर्म के आराधन की पात्रता आती है।

(३२) सौम्य :-- सद्‌गृहस्थ को सौम्य होना चाहिए। सौम्य का अर्थ अक्रूर स्वभाव वाला होता है। जिस व्यक्ति का स्वभाव क्रूरता-रहित होता है, जिसकी मुखाकृति से ही शान्ति झरती है, जिसकी मुख-मुद्रा सदा प्रफुल्लित रहती है वह सौम्यमूर्ति कहा जाता है। गृहस्थ को भी सौम्यमूर्ति बनना चाहिए। उसे अपना स्वभाव क्रूर नहीं रखना चाहिए। क्रूर प्रकृति वाला व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों को उद्वेग पहुंचाने वाला होता है। क्रोध के कारण उसकी मुख-मुद्रा रौद्र बनी रहती है। उसे देखकर दूसरों को प्रीति उत्पन्न नहीं होती अपितु भय एवं उद्वेग पैदा होता है। ऐसा व्यक्ति धर्म का योग्य पात्र नहीं हो सकता। अतः मार्गानुसारी को अपनी प्रकृति शान्त रखनी चाहिए। जिसका स्वभाव शान्त होता है उसके मुख मण्डल से चन्द्रमण्डल की तरह शान्ति झरती है। उसकी मुख-मुद्रा के दर्शन करने से प्रत्येक व्यक्ति को प्रीति पैदा होती है। उसके वदन पर सदा सौम्य मुस्कुराहट रहती है। ऐसा व्यक्ति स्वयं भी प्रसन्न रहता है और दूसरों को भी प्रसन्नता देता है। वही धर्म का अधिकारी हो सकता है। अतः मार्गानुसारी को सौम्य होना चाहिए।

(३३) परोपकार-परायण :-- सच्चा धर्मानुसारी व्यक्ति स्वार्थी नहीं हो सकता। वह केवल अपना ही स्वार्थ साधने वाला कदापि नहीं होता। वह दूसरे व्यक्तियों के हित का भी ध्यान रखता है। [illegible] तथा अपने कुटुम्ब के अतिरिक्त अन्य प्राणियों का भी [illegible] करने का भाव होता है जो अपना स्वार्थ इतना प्यारा नहीं [illegible] परोपकार प्रिय होता है। तामस और सात्त्विक प्रकृति [illegible] ही स्वभाव का आधार होता है। जो व्यक्ति तामसिक [illegible] अपना जीवन जीते हैं वे अपना स्वार्थ ही प्यारा [illegible] अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के हितों का घात करते

हैं । इससे भी निम्नतम कोटि के वे प्राणी हैं जो विना किसी प्रयोजन के ही दूसरों के हितों को वाधा पहुंचाते हैं । श्री भर्तृहरि ने चार प्रकार के पुरुषों का वर्णन किया है :–

> एते सत्पुरुषाः परार्थघटका स्वार्थं परित्यज्य ये
> सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृताः स्वार्था विरोधेन ये ।
> तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाव निघ्नन्ति ये
> ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।।

जो अपने स्वार्थ को छोड़कर दूसरों का भला करते हैं वे सत्पुरुष हैं । जो स्वार्थ को हानि न पहुंचती हो वहीं तक परहित करने वाले हैं वे सामान्य मनुष्य है । जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का अहित करते हैं वे मनुष्य के रुप में राक्षस हैं और जो विना किसी स्वार्थ के निरर्थक ही दूसरों का अहित करते हैं उन्हें क्या कहना चाहिए सो समझ में नहीं आता । अर्थात् वे राक्षसों से भी अधम कोटि के हैं ।

उक्त चार प्रकार के पुरुषों में से प्रथम दो कोटि के पुरुष ही धर्म के पात्र हो सकते है । स्वार्थ परायण व्यक्ति धर्म की आराधना नहीं कर सकता है । जिसकी स्वार्थ-भावना कम होती है और परार्थ भावना भी वलवती होती है वही व्यक्ति आत्मिक धर्म की आराधना के योग्य होता हैं । मार्गानुसारी व्यक्ति केवल अपना या अपने कुटुम्ब का ही हित नहीं देखता अपितु जाति, समाज, राष्ट्र और विश्व के हित का भी ध्यान रखता है । उसकी दृष्टि व्यापक होती है। वह संकुचित दायरे में सीमित नहीं रहता । वह अपने विशाल दृष्टिकोण से त्रिभुवन के कल्याण की कामना करता है । वह अपने दुःखों को सहन कर सकता है किन्तु दूसरों के दुःखों को चुपचाप नहीं देख सकता है । वह परोपकार में ही

[illegible] उत्तम कोटि के अधिकारी हैं
[illegible] गुणों से सम्पन्न है। मध्यम कोटि के अधिकारी हैं
[illegible] गुण [illegible] की अपेक्षा [illegible] हैं। अ[illegible]
वे धर्म-रत्न को ग्रहण करने की इच्छा [illegible] करते हैं या इच्छा
करने पर भी गुण-[illegible] से हीन होने से ग्रहण करने में समर्थ नहीं
होते हैं। जो इन इक्कीस गुणों से युक्त होता है वही धर्म-रत्न
को प्राप्त कर सकता है। जैसाकि कहा गया है:—

दुविहं पि धम्मरयणं तरइ नरो गितुभविगलं सो उ।
जस्संगवीस गुणरयण सम्पया सुत्थिआ अत्थि॥

अर्थात् इन इक्कीस गुण-रत्नों की सम्पदा जिसके सुस्थित होती है वह व्यक्ति देशविरति और सर्व विरति रूप दोनों प्रकार के धर्म-रत्न को अविकल रूप से ग्रहण करने में समर्थ होता है अतएव धर्म-मार्ग पर चलने का अधिकार प्राप्त करने के लिए पूर्वोक्त इक्कीस गुणों की सम्यग् आराधना करना चाहिए। इन गुणों के आराधन से हृदय रूपी क्षेत्र की शुद्धि होती है और व[illegible] धर्म-बीज बोने के योग्य बनता है अतः धर्म के अभिलाषियों क[illegible] भूमिका की शुद्धि के रूप में पूर्वोक्त गुणों का सम्पादन करने क[illegible] पूरा २ प्रयास करना चाहिए। व्यावहारिक व लौकिक धर्म की [illegible]आराधना की योग्यता आजाने के बाद ही उच्चकोटि के आध्या-[illegible]त्मिक धर्म की आराधना करने की पात्रता आ सकती है। अतः [illegible]स ओर-क्रमिक विकास की ओर-लक्ष्य देना विकास चाहने वाले [illegible]आत्माओं का कर्त्तव्य है। इन गुणों की आराधना यदि भली-भांति [illegible]की जाती है तो आत्मिक धर्म की आराधना भी भली-भांति हो [illegible]सकती है। यदि इन की आराधना में त्रुटि है तो आत्मधर्म की [illegible]आराधना में त्रुटि रहेगी। नींव में यदि सुदृढ़ता नहीं है तो उस

...र खड़े होने वाले प्रासाद में गुदृढ़ता नहीं आ सकती है। अतः नींव की दृढ़ता होना आवश्यक है। इसी तरह आत्म-धर्म रूप प्रासाद की रचना में त्रुटि न रहे, वह भव्य और सुन्दर हो, इसके लिए पूर्वोक्त गुणों की सम्यग् आराधना करनी चाहिए।

जगत वल्लभ श्री चौथमलजी महाराज

(तर्ज-जय बोलो महावीर स्वामी की)

जय बोलो प्रसिद्ध व्याख्यानी की, संघ स्वय के अग्रगामी की ॥टेर॥
जन-जन का उद्धार किया, बहु जीवों का कल्याण किया।
हरली पीड़ा मूक प्राणी की ॥१॥ जय बोलो.......

हिंसा को हटाने आया था, मिथ्या भ्रम मार मिटाया था।
केशर नन्दन महा ध्यानी की ॥२॥ जय बोलो.......

जगत वल्लभ शत-शत वंदन, जैन दिवाकर सहस्त्र नमन।
उदय मुनि गुरु ज्ञानी की ॥३॥ जय बोलो.......

[illegible]

[illegible] ।

[illegible] ॥

सम्यक्त्व का महत्त्व :-

[illegible] है और [illegible] है। [illegible] यही धर्म में प्रवेश [illegible] है, इसी पर धर्म की [illegible] है, यही उसका आधार है। [illegible] के होने से ही धर्म की [illegible] आती है और यही धर्म की [illegible] है।

सम्यक्त्व की महिमा और गरिमा का पार नहीं है। वाणी और लेखनी के द्वारा उसके गुण-गण की गणना नहीं की जा सकती। यह सकल सम्पदा का आगार और मोक्षमार्ग में कर्णधार है। यदि सकल सम्पत्ति का शिरमौर सम्यक्त्व रत्न विद्यमान है तो उस व्यक्ति को इन्द्र और चक्रवर्ती की सम्पत्ति से क्या प्रयोजन हो सकता है? और यदि यह रत्न नहीं है तो चक्रवर्ती और इन्द्र के समान ऋद्धि होने पर भी क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? अर्थात् सम्यक्त्व नहीं है तो अपार वैभव होने पर भी प्राणी दीन है और यदि सम्यक्त्व है तो वह बाह्य ऋद्धि न होने पर भी देवेन्द्र और चक्रवर्ती से भी अधिक सम्पन्न है। स्वामी समन्त भद्राचार्य ने कहा है :-

सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपि मातंग देहजम् ।
[illegible] देवं विदुर्भस्म गूढांगारान्तरौजसम् ॥

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात् ।
कापि नाम नवेदन्या सम्पद् धर्माच्छरीरिणाम् ।।

जिनेन्द्र देव ने सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले चाण्डाल को भी भस्म में छिपे हुए अंगारे के भीतरी प्रकाश के समान अत्यन्त निर्मल देवतुल्य कहा है।

सम्यक्त्व धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव हो जाता है और मिथ्यात्वादि के कारण देव भी कुत्ता हो जाता है। इसलिए सम्यक्त्वादि धर्म के अतिरिक्त संसारी जीवों के लिए अन्य अधिक सम्पत्ति क्या हो सकती है?

पण्डित प्रवर आशाधरजी ने भी कहा है:-

नरत्वेऽपि पशूयन्ते मिथ्यात्व ग्रस्तचेतसः ।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्व व्यक्तचेतनाः ।।

जो मिथ्यात्व से ग्रसित हैं वे मनुष्य होते हुए भी पशु के समान हैं और जो सम्यग्दर्शन से सम्पन्न है वे पशु होते हुए भी मनुष्य के समान हैं।

इस पर से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि जैन धर्म जाति, कुल, ऐश्वर्य आदि से बड़प्पन नहीं मानता अपितु गुणों का ही महत्त्व स्वीकार करता है। सम्यग्दर्शन सम्पन्न चाण्डाल को देव तक कह देना यह सिद्ध करता है कि जैन धर्म गुण पूजक है, जाति पूजक या धन-पूजक नहीं है। धर्म के क्षेत्र में जाति, कुल और ऐश्वर्य का कोई महत्त्व नहीं है। यह जैन धर्म की उदारता और व्यापकता का सूचक प्रमाण है। अस्तु।

रत्न-त्रय में सम्यग् दर्शन की प्रधानता:-

मोह रहित अर्थात् सम्यग्दर्शन वाला गृहस्थ मोक्षमार्ग में चलने वाला है परन्तु जिसका मोह-मिथ्यादर्शन नष्ट नहीं हुआ है ऐसा साधु मोक्षमार्ग का आराधक नहीं है। इसलिए मिथ्यादृष्टि मुनि से सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है। इससे सम्यग्दर्शन की महत्ता के साथ ही यह भी प्रकट होता है कि धर्म-क्षेत्र में लिंग (वेश) का उतना महत्व नहीं जितना गुणों का है।

सम्यक्त्व का पुण्य प्रभावः-

सम्यक्त्व वह अमृत है जो अनादिकालीन मिथ्यात्व रोग को नष्ट करता है। सम्यक्त्व वह संजीवनी है जो मोह से मृत-प्राय आत्मा को नव जीवन प्रदान करती है। सम्यक्त्व वह रसायन है जो मोह-रोग से उत्पन्न हुई क्षीणंता को दूर करके आत्म-गुणों को पुष्ट करता है। तीनलोक में और त्रिकाल में मिथ्यात्व के समान अश्रेयस्कर और सम्यक्त्व के समान श्रेयस्कर कोई दूसरी वस्तु नहीं है।

निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले जीव भले ही अणुव्रत-महाव्रतों का पालन न कर रहे हों, तथापि यदि उन्होंने सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व आयुष्य का बन्ध न किया हो तो नरक में नहीं जाते. तिर्यञ्ज गति में नहीं जाते, नपुंसक नहीं होते, स्त्री नहीं होते, नीच कुल में उत्पन्न नहीं होते, विकल अंग वाले नहीं होते, अल्पायु नहीं होते और दरिद्र नहीं होते। सम्यक्त्व सम्पन्न जीव ही चक्रवर्त्ती, इन्द्र और तीर्थंकर की ऋद्धि के अधिकारी होते हैं। जिन जीवों ने एक वार भी सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया है वे कृष्ण पक्षी मिटकर शुक्ल पक्षी बन जाते हैं और उनका मोक्ष अवश्यं भावी हो जाता है।

रहा है। इस भ्रान्ति का निवारण करके अपने सत्य-स्वरूप क
दर्शन कर लेना सम्यक्त्व कहलाता है।

एगो मे सासओ अप्पा णाणदंसण लक्खणो ।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोग लक्खणा ।।

ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला, शाश्वत और स्वतंत्र आत्म
ही मेरा स्वरूप है। इसके अतिरिक्त विश्व के समस्त पदार्थ मुभ
से भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूं। उनका मेरा संयोग नैमित्तिक
(वाह्य कारणों से होने वाला) है। यह संयोग अनित्य है, धन-
धान्यादि पदार्थ मुझ से अलग होने वाले हैं अतएव मेरे नहीं हैं
ज्ञान और दर्शन मुझ से कभी अलग नहीं होते अतएव यही मे
हैं। इस प्रकार स्वरूप की दृढ़ प्रतीति हो जाना ही सत्य क
साक्षात्कार है। यही सम्यक्त्व का स्वरूप है।

इस स्वरूप-दर्शन में देव, गुरू, धर्म और शास्त्र परम
उपकारी होते हैं। इनकी सहायता से स्वरूप-दर्शन सुखपूर्वक हो
सकता है। इसलिए सच्चे देव, गुरू, धर्म और शास्त्र का अवलम्बन
लेना, इनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर श्रद्धा रखना और इनको
सम्यग् आराधना करना भी सम्यक्त्व कहा जाता है। जैसा कि
कहा गया है-"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। हेमचन्द्राचार्य ने योग
शास्त्र में कहा है:-

या देवे देवताबुद्धिर्गुरौ च गुरुतामतिः ।
धर्मे च धर्मधीः शुद्धा सम्यक्त्वमिदमुच्यते ।।

देव के गुणों से युक्त पुरूष को देव मानना, गुरू के गुणों से
युक्त को गुरू मानना और सत्य धर्म को धर्म समझना सम्यक्त्व है।

देव, गुरू और धर्म के शुद्ध श्रद्धान में लोक के समस्त

पदार्थों का श्रद्धान समाविष्ट हो जाता है क्योंकि देव सर्वज्ञ होते हैं अतः वे लोक के समस्त चराचर पदार्थों के ज्ञाता होते हैं। उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म और धर्मशास्त्रों में सब पदार्थों का निरूपण होता है। अतः देव पर श्रद्धा करने का अर्थ है उनके द्वारा प्ररूपित सब पदार्थों का उसी रूप में श्रद्धान करना। देव के द्वारा प्ररूपित तत्त्व को बताने वाले गुरु होते हैं अतः उन पर भी श्रद्धा करना आवश्यक है। देव, गुरु और धर्म के प्रति शुद्ध श्रद्धा होने पर जगत् के सब पदार्थों की सच्ची श्रद्धा हो जाती है। देव, गुरु और धर्म के स्वरूप को समझकर तथा गुणानुसार उनकी प्रतीति करने के पश्चात् अपने आपको उनके समर्पण कर देना सम्यक्त्व का स्वरूप है।

देव का स्वरूप

जिस व्यक्ति का जो लक्ष्य-बिन्दु होता है उस पर पहुँचे हुए व्यक्तियों को आराध्य देव के रूप में मान कर उनकी सेवाभक्ति करने से व्यक्ति को अपने लक्ष्य-बिन्दु तक पहुँचने में सहायता मिलती है। विकासोन्मुख आत्मा का लक्ष्य-बिन्दु स्वरूप का दर्शन करना और उस को प्राप्त करना होता है। जो महामानव आत्म-[illegible] की पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुके हैं, वे ही विकासोन्मुख [illegible] के आराध्य देव हो सकते हैं। उन महाविभूतियों को [illegible] बनाकर यह आत्मा भी अपने आदर्श तक पहुँच सकती [illegible] स्वरूप के दर्शन का अभिलाषी प्राणी उन्हें ही आराध्य [illegible] मानता है जो राग-द्वेष आदि दोषों से अतीत [illegible] आत्मस्वरूप की पराकाष्ठा प्राप्त करके [illegible] सर्वज्ञ और सर्वदृष्टा बन चुके हैं और जो आत्म-[illegible] का प्ररूपण करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र [illegible]

नें देव का लक्षण इस प्रकार बताया है:—

सर्वज्ञो जितरागादिदोष स्त्रैलोक्य पूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ।।

जो विश्व के चराचर सकल पदार्थों के ज्ञाता और द्रष्टा हैं, जो राग-द्वेष आदि दोषों पर विजय प्राप्त चुके हैं, जो सुरेन्द्रों असुरेन्द्रों एव नरेन्द्रों के पूजनीय हैं, जो यथार्थ तत्त्व के प्ररूपक है और जो समस्त आध्यात्मिक विभूतियों से सम्पन्न हैं, वे अर्हन् आराध्य देव हैं।

जो उपर्युक्त लक्षणों से सम्पन्न हैं वे चाहे कोई भी क्यों न हों, आराध्य देव हो सकते हैं। धर्म में साम्प्रदायिकता को स्थान नहीं है किन्तु गुणों का महत्व हैं। शुद्ध धर्म में साम्प्रदायिक पक्ष-पात नहीं होता किन्तु गुणों का पक्षपात होता है। इसलिए जो कोई भी राग-द्वेष से रहित, सर्वज्ञ और यथार्थवादी हैं वे देव का स्थान प्राप्त कर सकते हैं। जैसा कि कहा गया है:—

भवबीजाङ्कुरजनना: रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।

अर्थात् संसार रूपी बीज को अंकुरित करने वाले राग-द्वेष आदि दोष जिनके समूल क्षीण हो गये हैं, वे चाहे ब्रह्मा हों, विष्णु हों, शंकर हों अथवा जिन हों, उन्हें नमस्कार है।

जो राग-द्वेष से युक्त हैं, जो स्त्री का संसर्ग रखते हैं, जो शस्त्र धारण करते हैं जो भक्तों पर अनुग्रह और दूसरों का निग्रह करने वाले हैं, जो बलि वगैरह की कामना करते हैं, जो नाट्य, अट्टहास, संगीत आदि करने वाले हैं और जो रूष्ट-तुष्ट होने वाले

हैं, वे देव आध्यात्मिक शान्ति प्रदान करने वाले या मोक्षमार्ग के नेता नहीं हो सकते हैं। ऐसे सरागी देवों की आराधना से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन और उस स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती है। ऐसे देव स्वयं राग-द्वेष से ग्रसित होने के कारण आत्मा के शुद्ध स्वरूप से दूर हैं तो दूसरों को शुद्धस्वरूप का दर्शन और उसकी उपलब्धि कैसे करा सकते हैं। जो स्वयं निर्धन है वह दूसरे को धनी कैसे बना सकता है? जो स्वयं बन्धनों से बंधा हुआ है वह दूसरों को मुक्त कैसे कर सकता है? इसलिए आत्मिक विकास चाहने वाले व्यक्ति को ऐसे देव की आराधना करनी चाहिए जो आध्यात्मिक वैभव से परिपूर्ण हैं, जो सांसारिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त हैं और यथार्थ तत्त्व के उपदेष्टा हैं। ऐसे देव अर्हन् हैं। वे राग-द्वेष को जीतकर सर्वज्ञ और सर्वदृष्टा [illegible] हैं वे निःस्वार्थ भाव से सत्य तत्त्व का उपदेश प्रदान करते हैं। [illegible] आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं। इसलिए इनका [illegible] करना चाहिए, इनकी ही उपासना करनी चाहिए, इनका [illegible] और इनकी ही आज्ञा को स्वीकार [illegible]।

[illegible] कार्तिकेय, [illegible] आदि राग-द्वेष से [illegible] आराधना करने से कोई [illegible] [illegible]

[illegible]

करने से ही वह अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। सच्चे देव के गुणों से युक्त आत्मा को देव मानकर उसकी सम्यक् पर्युपासना करना सम्यक्त्व का मुख्य अंग है।

गुरू का स्वरूप

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अर्हन् देव सदा प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान नहीं होते हैं, अतः उनका परिचय कराने वाले, उनका संदेश सुनाने वाले तथा उनके आदेशानुसार प्रवृत्ति करने वाले और कराने वाले गुरु की आवश्यकता होती है। साक्षात् अर्हन्त देव की अनुपस्थिति में गुरूदेव ही उनके प्रतिनिधि हैं। इसलिए गुरू पर हार्दिक श्रद्धा होनी चाहिए। गुरू हृदय के अन्धकार को दूरकर ज्ञान रूपी नेत्र प्रदान करने वाले और मोक्षमार्ग वतलाने वाले परम उपकारी महापुरुष हैं। इनके द्वारा प्रदान किये हुए ज्ञान के प्रकाश से आत्मविकास का अगम्य मार्ग भी प्रशस्त वन जाता है। गरुदेव ही अज्ञान रूपी अन्धकार से निकाल कर ज्ञान के निर्मल प्रकाश में पहुंचाने वाले हैं। अज्ञान रूपी तिमिर रोग से ज्योतिर्हीन बने हुए नेत्रों को ज्ञान रूपी अञ्जन के द्वारा खोल देने वाले गुरुदेव ही है। वे संसार-कान्तार में इधर-उधर भटकने वाले प्राणी को किसी इष्ट लक्ष्य विन्दु पर स्थिर करने वाले और उस लक्ष्य पर पहुंचने का मार्ग प्रदर्शित करने वाले है। स्वयं तिरने वाले और दूसरों को तारने वाले हैं। गुरूदेव की महिमा अपार है। निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहे से उनकी महत्ता का परिचय मिल जाता है :—

गुरू गोविन्द दोनों खड़े किसके लागूं पाय ?
बलिहारी गुरूदेव की गोविन्द दियो वताय ॥

परमात्म-स्वरूप का दर्शन करा देने वाले गुरूदेव के उपकार

की महिमा अवर्णनीय है।

आत्म-स्वरूप के द्रष्टा, ज्ञाता और आदाता बनने के अभिलाषी आत्माओं के लिए वे ही गुरु आदर्श तक पहुंचाने में समर्थ हो सकते हैं जो स्वयं आत्म स्वरूप के द्रष्टा हों, जो आत्म स्वरूप को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हों और आत्मा को बन्धन में बांध रखने वाले आरम्भ-परिग्रह से मुक्त हों। गुरु के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं :-

> विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
> ज्ञान-ध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥
>
> महाव्रत धरा धीरा भैक्षमात्रोप जीविनः ।
> सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः ॥

हैं, जो स्वाद के वश होकर मद्य-मांस भक्षण करने वाले हैं और जो इन्द्रियों के गुलाम बन रहे हैं, वे इस महत्त्वपूर्ण गुरु-पद के अधिकारी नहीं हो सकते हैं। ऐसे गुरुओं से किसी प्रकार के कल्याण की कामना करना केवल अज्ञान है। जो स्वयं आत्म-स्वरूप से दूर है, जो बाह्य जड़ पदार्थों में आसक्त होने से आरम्भ और परिग्रह से जकड़े हुए हैं, जो विषय और कषाय से स्वयं अशान्त हैं, वे दूसरों को आत्मस्वरूप की झांकी क्या बता सकते हैं? सांसारिक बन्धनों से कैसे छुड़ा सकते हैं और सच्ची शान्ति कैसे प्रदान कर सकते हैं?

> परिग्रहारम्भ मग्नास्तार येयुः कथं परान्।
> स्वयं दरिद्रो न परमीश्वरी कर्त्तुमीश्वरः॥

जो स्वयं दरिद्र है वह दूसरों को समृद्ध कैसे बना सकता है? जो परिग्रह और आरम्भ में आसक्त होने से स्वयं डूब रहे हैं वे दूसरों को कैसे तार सकते हैं? जो ऐसे गुरुओं का शरण लेकर संसार-सागर के पार पहुंचना चाहते हैं वे पत्थर की नाव से सागर के पार उतरना चाहते हैं।

जिस प्रकार स्वयं बंधा हुआ व्यक्ति दूसरे के बन्धन को काटने में समर्थ नहीं हो सकता है, उसी तरह जो स्वयं संसार में आसक्त हैं वे संसार के बन्धन से घबरा कर शान्ति चाहने वाले आत्मा को बन्धन-मुक्त कैसे कर सकते हैं? इसलिए विकास का अभिलाषी आत्मा ऐसे ही महापुरुषों को गुरु के पद पर आसीन करता है जो उसे लक्ष्यबिन्दु पर पहुंचाने में समर्थ हों। कञ्चन और कामिनी ही संसार के बन्धन के कारण हैं। जो इस बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं उन्हें इनसे मुक्त हुए पुरुषों का ही अवलम्बन लेना चाहिए। सांसरिक कामनाओं से प्रेरित होकर आत्मधर्म से

विमुख बने हुए वेशधारियों की सेवा-पूजा करना आत्मधर्म से पतित होना है।

सच्चे गुरु के स्वरूप को समझ कर और जो उस पद के योग्य हों उन्हें गुरु-पद पर स्थापित करके अपने आपको उनके अर्पण करने में वास्तविक कल्याण है। विवेक बुद्धि के द्वारा निर्णय कर लेने पर जिन महापुरुष को गुरुदेव के रुप में स्वीकार किया है उनके प्रति पूरा २ आत्म-समर्पण करना ही कल्याण का मार्ग है। अपने जीवन की बागडोर उनके हाथों में सौंप देने से वे परम कारुणिक महापुरुष शीघ्र उस स्थिति पर पहुंचा देते हैं जो अपना आदर्श और लक्ष्य है। इसलिए मिथ्यागुरुओं के संसर्ग से बचकर आत्म विकास के लिए सतत प्रयत्न करने वाले, ज्ञान-ध्यान में लिन रहने वाले, ब्रह्मचर्य की परिपूर्ण आराधना करने वाले और सत्य धर्म का उपदेश प्रदान करने वाले गुरुदेव के चरणों का शरण लेना आध्यात्मिक उन्नति का हेतु है। सच्चे गुरुदेव की निर्मल आराधना करना सम्यक्त्व—धर्म की आराधना करना है।

धर्म का स्वरूप

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने वाला तत्त्व धर्म है। जिस तत्त्व को अपनाने से आत्मा अपने शुद्ध आत्म-धर्म में स्थित हो जाता है वही धर्म है इस धर्म के वास्तविक उपदेष्टा वे ही हो सकते हैं जिन्होंने आत्मा की शुद्ध अवस्था प्राप्त करली हो। राग द्वेष को जीतकर जिन्होंने परिपूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है वे ही अपने अनुभव के द्वारा उस स्थिति को प्राप्त करने के वास्तविक उपायों का सूचन कर सकते हैं। जिस मार्ग पर चलकर उन्होंने आत्मविशुद्धि की पराकाष्टा प्राप्त की है, उस मार्ग का

अंगों से परिपूर्ण सम्यक्त्व ही अभीष्ट फल देने वाला होता है। अतः सम्यक्त्व के सकल अंगों की आराधना करना चाहिए। सम्यक्त्व के आठ अंग हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं :-

(१) निःशङ्कित (२) निःकांक्षित (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढ दृष्टि (५) उपबृंहण (६) स्थिरीकरण (७) वत्सलता और (८) प्रभावना।

(१) निःशङ्कित :- शुद्ध और सत्य आर्हत दृष्टि को विवेक पूर्वक स्वीकार कर लेने के पश्चात् उसकी सत्यता में किसी प्रकार की शङ्का न लाते हुए पर्वत की तरह अडोल श्रद्धान रखना निःशङ्कित अंग है। "तमेव सच्चं नीसंकं जिणेहिं पवेइयं"
जिनेश्वर देव ने जो कहा है वह सत्य और निश्शंक ही हैं। इस प्रकार की अटल और निष्कंप श्रद्धा रखनी चाहिए। विवेक पूर्वक सत्य दृष्टि को स्वीकार करने के पश्चात् भी यदि चित्त शंकाशील बना रहता है तो वह समाधि नहीं पा सकता है। ऐसा शंकाशील आत्मा किसी निर्णय पर नहीं पहुंच पाता है और शंकाओं के बीच में बुरी तरह फंसकर दुर्दशा को प्राप्त होता है। इसलिए कहा गया है कि - "संशयात्मा विनश्यति"।

अर्थात्-संशयों से ग्रस्त आत्मा नष्ट होता है। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति सदा शंकाशील रहता है वह किसी निर्णय पर नहीं पहुंच पाने से सत्य तत्त्व की आराधना से वञ्चित रहता है। फलस्वरूप उसके गुणों का नाश हो जाता है। वह दुर्दशा को प्राप्त होता है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि तत्त्वनिर्णय के लिए भी संशय या शङ्का न करनी चाहिए। तत्त्वज्ञान के लिए शंका करना सम्यक्त्व में दोष का कारण नहीं है। वही शंका और संशय सम्यक्त्व का दोष होता है जो सदा बना रहता है और जिसका

[illegible]

(२) प्रभावना :— [illegible] के अनुसार [illegible] का प्रचार करना और उसकी महिमा में [illegible] करना।

(३) भक्ति :— सत्य धर्म का आराधन करने वाले गुणीजनों की सेवा-भक्ति करना और गुणों के प्रति अनुराग रखना।

(४) जिन-शासन में निपुणता :— जिनेन्द्र देव के द्वारा प्ररूपित तत्त्व ज्ञान में प्रविणता प्राप्त करना।

(५) तीर्थ सेवा :— साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की सेवा-शुश्रूषा करना तीर्थ-सेवा है। तीर्थ (संघ) का बड़ा भारी महत्त्व है। शास्त्रकारों ने संघ को 'भगवान्' कहा है। नन्दी सूत्र में विविध उपमाओं द्वारा संघ की स्तुति की गई है। ऐसे चतुर्विध संघ की यथाशक्ति सेवा बजाना तीर्थ-सेवा है। यह सम्यक्त्व का महत्त्व पूर्ण-अनमोल अलंकार है।

उक्त पांच गुणों से सम्यक्त्व रूपी रत्न की कान्ति और आभा प्रस्फुटित्त हो जाती है।

सम्यक्त्व के दूषण

सम्यक्त्व को मलिन करने वाले अङ्गों का ज्ञान करके परित्याग करना आवश्यक है, अन्यथा उनके कारण सम्यक्त्व की हानि होने की सम्भावना रहती है। जो अङ्ग सम्यक्त्व को दूषित करते हैं वे मुख्य रूप से पाँच हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(१) शङ्का :— सत्य-धर्म में सन्देह करना। जिज्ञासा और सत्य-निर्णय के लिए शङ्का करना दूषण नहीं है। यह शङ्का श्रद्धापूर्वक होने से शल्य की तरह चुभने वाली नहीं होती। जो शंका, समाधान के अभाव में निरन्तर बनी रहकर आत्मा की शान्ति में बाधा डालती है और जो यह मानने को बाध्य करती है कि यह जिन-प्ररूपित धर्म समझ में नहीं आता अतः मिथ्या है, इस प्रकार की मन-कुत्सित शङ्का सत्य धर्म की श्रद्धा को मलिन बनाती है। अतः यह समकित का दूषण है। इस विषय में निम्नलिखित गाथा अंश में विशेष विवेचन किया जा चुका है।

(२) काङ्क्षा :— सत्य-धर्म से अतिरिक्त अन्य मत या पन्थ की अभिलाषा करना काङ्क्षा दूषण है। बाह्य चमत्कार से प्रभावित होने पर इस प्रकार की अभिलाषा होती है। यह शुद्ध श्रद्धान को मलिन करने वाली होने से समकित का दूषण है।

(३) विचिकित्सा :— सत्य धर्म और उसके फल में सन्देह करना। अथवा आत्म-धर्म के अनुयायियों के शरीर और वस्त्रों के प्रति होने वाली अरुचि के कारण-मलिन वस्त्र और शरीर को देख कर घृणा करना विजुगुप्सा है। यह भी सम्यक्त्व की हानि करने वाला दूषण है।

(४) अन्य-दृष्टि प्रशंसा :— असत्य पक्ष का अवलम्बन लेने वालों की तारीफ करना भी शुद्ध समकित का दूषण है। असत्य दृष्टि होने पर भी उनमें तप, त्याग, बुद्धि कौशल आदि सद्गुण होते हैं। इन सद्गुणों को लेकर उनकी तारीफ करने से सामान्य बुद्धि वाले जीव उनके प्रति आकर्षित होकर उस असत्य दृष्टि का अवलम्बन लेने के लिए तत्पर हो सकते हैं। इस सम्भावना के परिहार के

लिए ऐसे ओघ दृष्टि वाले जीवों के सामने अन्य दृष्टियों की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। शुद्ध तटस्थ बुद्धि से जहां उक्त सम्भावना की आशंका न हो वहां उनके सद्गुणों की प्रशंसा करने में कोई हानि नहीं है। छोटे पौधों की रक्षा के लिए बाड़ की आवश्यकता होती है। दृढ़ वृक्षों के लिए बाड़ की जरूरत नहीं होती।

(५) अन्य दृष्टियों का परिचय :-- समकित धर्म की जब तक परिपक्वता न हो जाय तब तक अन्य दृष्टियों के संसर्ग का त्याग करना चाहिए। इसका कारण भी पूर्वोक्त ही है। जब श्रद्धान में दृढ़ता आजाती है तब उससे विचलित होने की सम्भावना नहीं रहती। जब तक यह अवस्था प्राप्त न हो तब तक उनके संसर्ग से दूर रहना ही अच्छा है।

सम्यक्त्व के चिन्ह

सम्यक्त आत्मा का धर्म है। आत्मा अरूपी है इस कारण उसका यह धर्म भी अरूपी है। वह बाह्य-दृष्टि से अवगत नहीं हो सकता। यद्यपि निश्चय दृष्टि से छद्म आत्मा सम्यक्त्व का परिपूर्ण निश्चय नहीं कर सकता है तदपि कतिपय ऐसे चिन्ह हैं जिनके द्वारा सम्यक्त्व जाना जा सकता है। जैसे मुख-विकार आदि बाह्य चेष्टाओं से अन्तर्गत मन के भावों का ज्ञान हो जाता है, इसी तरह आत्मा की बाह्य चेष्टाओं से उसके समकित-धर्म के सद्भाव का ज्ञान हो सकता है। समकित को व्यक्त करने वाले प्रधानतया पांच चिन्ह हैं। वे इस प्रकार हैं —

(१) शम :-- जिस प्रकार मल-कलङ्क से मुक्त सोना काला नहीं होता है उसी प्रकार जिस आत्मा ने मिथ्यात्व-कलङ्क को नष्ट कर दिया है वह अशुभ परिणाम वाला नहीं होता है। उसके परिणाम

सदा शुभ ही रहते हैं। इसलिए उसके कषायों की तीव्रता नष्ट हो जाती है। उसे प्रचण्ड क्रोध नहीं आता। धृष्टता पूर्ण मान से वह दूर रहता है। वह गूढ माया का सेवन नहीं करता और सागर की तरह अनन्त लोभ नहीं करता। इसे शास्त्रीय भाषा में अनन्तानुबन्धी कषाय कहा जाता है। जिसका यह कषाय दूर हो जाता है उसे ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। अतः जीवात्मा के कषायों के वेग पर से समकित का ज्ञान हो सकता है। जिस आत्मा की कषाय-परिणति जितनी सूक्ष्म होती है उतना ही अधिक निर्मल उसका सम्यक्त्व समझना चाहिए। अपराधी व्यक्ति पर भी जिसे तीव्र क्रोध नहीं होता और संयोग वश क्रोध आने पर भी जो थोड़े ही समय में शान्त हो जाता है, ऐसे उपशम भाव वाले जीव को सम्यक्त्व शील समझा जा सकता है। कषायों की शांति आत्म-विकास की द्योतक होती है। जिसकी आत्मा जितनी विकसित होती है उसके कषाय उतने ही शान्त होते हैं। अतः प्रकृति की उपशमता से आत्मा के विकास का परिचय मिल जाता है। इसलिए शान्त प्रकृति को समकित का प्रथम चिन्ह कहा गया है।

(२) संवेग :– सांसारिक सुखों को दुःख रूप मानकर मोक्ष की अभिलाषा करना संवेग है। पौद्गलिक और आध्यात्मिक सुखों की भिन्नता और वास्तविकता को समझ कर जो पौद्गलिक सुख को छोड़ने और आत्मिक सुख को पाने की अभिलाषा करता है वह सम्यक्त्व सम्पन्न आत्मा है। ऐसा आत्मा यह मानता है कि सांसारिक सुख पराश्रित, क्षणिक और दारुण फल देने वाले होने से दुःख रूप ही है। चक्रवर्ती और इन्द्र को होने वाला सांसारिक सुख भी विनश्वर है। इस विनश्वरता के कारण उस सुख का उपयोग करते हुए भी वे सदा शङ्कित रहते हैं कि यह एक दिन चला जाने वाला है। इस आशंका से वे सुख भोगते हुए भी दुख

झूठे लेख लिखना, नकली हिसाब बनाना, समाचार पत्रों में झूठे समाचार देना, नकली नोट या रूपये बनाना यह सब श्रावक के लिए वर्जनीय हैं। इन बातों से बचते हुए यथासम्भव सत्यव्रत का आराधन करना चाहिए।

सत्यव्रत के आराधन में विवेक का बहुत महत्त्व है। विवेक पूर्वक बोला हुआ वचन ही सत्य हो सकता है। विवेक के अभाव में कहा हुआ सत्य-वचन भी असत्य रूप हो जाता है। विवेक सम्पन्न सत्यव्रत-धारी व्यक्ति सत्य होने पर भी इस प्रकार का भाषण नहीं करता जिससे दूसरों को पीड़ा पहुँचती है। जैसे काणे को काणा कहना, चोर को चोर कहना यद्यपि मिथ्या नहीं है तदपि पर-पीड़ाकारी होने से यह सत्य नहीं है। यह ध्यान रखना चाहिए कि वही सत्य, सत्य है जो अहिंसा का बाधक न हो। अहिंसा और सत्य परस्पर अबाधित होने चाहिए। जिस सत्य-भाषण से जीवों की घात होने की सम्भावना हो वह भाषण कदापि न करना चाहिए। जैसे मार्ग में चलते हुए मनुष्य को शिकारी पूछे कि तुमने इधर से जाता हुआ मृग-झुण्ड देखा है ? उस मनुष्य ने मृग-झुण्ड देखा है, लेकिन यदि वह 'हाँ' कहकर मार्ग बताता है तो जीवों का घात होता है और यदि "नहीं" कहता है तो झूठ का प्रसंग आता है। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिएं ? ऐसी स्थिति में ऐसा उत्तर देना चाहिए कि जिससे न तो प्राणी का घात हो और न मिथ्या-भाषण ही करना पड़े यदि ऐसा उत्तर न आवे तो मौन रहना चाहिए। अथवा अपवाद रूप से "मैं नहीं जानता" ऐसा कह देना चाहिए परन्तु ऐसे प्रसंग पर पाप को प्रेरणा देने वाला सत्य-वचन नहीं कहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि व्रतधारी को विवेक बुद्धि से काम लेना चाहिए।

सत्यव्रत की आराधना करने वाले व्यक्ति को हित, मित, प्रय और सत्य भाषण करना चाहिए। वृथा वकवाद से वचना ाहिए। अधिक वोलने से असत्य भाषण का प्रसंग आ ही जात है सलिए मितभाषी होना चाहिए। श्रावक के मुख से ऐसे ही चन निकलने चाहिए जो दूसरों के अन्तः करण पर मधुर असर करें। किसी के दिल को दुखाने वाले वचन, निन्दा-विकथा के शब्द, चापलूसी, अविवेक पूर्ण वचन, अप्रांसगिक वचन आदि से वचकर हितकर, मृदु, प्रिय और परिभित भाषण करना चाहिए।

सत्य और अहिंसा एक दूसरे के साधक हैं। यही धर्म की आत्मा हैं। इनकी निर्मल आराधना से आत्मा निर्मल वन जाता है। **"नास्ति सत्यात् परो धर्म"**:-यह जानकर सत्य का आराधन करना चाहिए। "सच्चं लोगम्यि **"सच्च लोगम्यि सारभूयं"** सत्य ही लोक में सारभूत है।

अस्तेय व्रत

श्रावक का तीसरा व्रत अदत्तादान-विरमण या अस्तेयव्रत है। दूसरे के अधिकार में रही हुई वस्तु का उसकी स्वीकृति के विना ग्रहण करना अदत्तादान कहलाता है। दूसरे के अधिकारों का अपहरण करना भी चोरी है। मन, वचन और शरीर से, सूक्ष्म या स्थूल, अल्प मूल्य वाली या वहुमूल्य, सचित्त किसी प्रकार की वस्तु स्वामी की आज्ञा के विना स्वयं ग्रहण न करना, दूसरों को ग्रहण करने की प्रेरणा न करना और ग्रहण करने वाले को अनुमोदन न देना सम्पूर्ण अस्तेय व्रत है। संसार के त्यागी मुनिराज तीन करण-तीन योग से इसका पालन करते हैं। गृहस्थ को संसार-व्यवहार चलाना होता है अतः वह इतनी सूक्ष्म रीति से इसका

पालन न कर सके फिर भी वह स्थूल अदत्तादान का त्याग करने की प्रतिज्ञा लेता है।

स्थूल अदत्तादान वह है जिसके सेवन से व्यक्ति दुनिया की दृष्टि में चोर समझा जाता हैं, राज दण्ड का पात्र होता है, और शिष्ट पुरुषों में उसे लज्जित होना पड़ता है। दुष्ट अध्यवसाय से किसी के अधिकारों को हड़प लेना स्थूल अदत्तादान है। सेंध लगाना, जेब कतरना, डाका डालना, ताला तोड़कर माल निकाल लेना, मार्ग में मिली हुई वस्तु के मालिक का पता होने पर भी उसे स्वयं ले लेना, आदि आदि स्थूल अदत्तादान है। श्रावक मन, वचन और काया के द्वारा ऐसे कार्य न तो स्वयं करता है और न दूसरों को करने की प्रेरणा करता है।

ऊपर स्थूल अदत्तादान का वर्णन करते हुए केवल उन्हीं कार्यों का उल्लेख किया गया है जो असभ्य उपायों के द्वारा किये जाते हैं। परन्तु आजकल चोरी करने के कई सभ्य उपाय भी निकल आये हैं जिनका आश्रय लेने से चोरी करने वाले भी साहूकार ही कहे जाते हैं। काला बाजार (Black Market) करना, अधिक मुनाफा कमाना, रिश्वत देना-लेना, धन-सम्पत्ति को दबा कर दीवाला निकालना, असली वस्तु में नकली वस्तु मिलाकर भी असली बताना, एक वस्तु बताकर दूसरी देना या लेना, कम देना, ज्यादा लेना, झूठे दस्तावेज लिखवा लेना, सार्वजनिक संस्थाओं के नाम पर या धर्म के नाम पर धन एकत्रित कर उसमें [illegible] हड़प जाना, मिथ्या विज्ञापन के द्वारा दूसरों के धन का हरण करना आदि विविध उपायों [illegible] का अवलम्बन किया जा रहा है। ये सब स्थूल अदत्तादान हैं, [illegible] करने वाले दुष्ट अध्यवसाय से [illegible] है।

सभ्य उपायों के द्वारा चोरी करने वाले असभ्य उपायों से चोरी करने वालों की अपेक्षा अधिक भयंकर हैं । क्योंकि जनता प्रकट चोरों से तो सावधान रहकर अपने द्रव्य की रक्षा का उपाय करती है परन्तु इन सभ्य चोरों से बचना कठिन हो जाता है । साधारण जनता उनकी साहूकारी पर विश्वास करती है और वे सभ्य चोर उसके साथ विश्वास-घात करके अनुचित और अमर्यादित लाभ उठाते हैं । यह जघन्य प्रवृत्तियां हैं श्रावक को इनसे बचना चाहिए ।

अस्तेय व्रत की आराधना के लिए श्रावक को विशेष कर निम्नलिखित कार्यों का त्याग करना चाहिए:-

(१) चोरी का माल खरीदना ।

(२) चोरी में मदद करना ।

(३) विरुद्ध राजा की सीमा में जाना-आना अथवा राज्य की सुव्यवस्था के विरुद्ध कार्य करना ।

(४) झूठे तोल-माप रखना ।

(५) मिलावट कर अशुद्ध चीजें बेचना ।

चोरी का माल खरीदने का अर्थ है चोरी को प्रोत्साहन देना । चुराई हुई वस्तुएं प्रायः सस्ती बिकती हैं । अतः जानबूझ कर लोभ के वशीभूत होकर ऐसी सस्ती वस्तुएं खरीदना चोरी के समान ही पापमय है । राज्य व्यवस्था में भी जानबूझ कर चोरी का माल खरीदने वाले को चोर के समान ही दण्ड दिया जाता है । यदि अनजान में भी चोरी की वस्तु खरीद ली जाती है तो राज्य उसका मूल्य चुकाये बिना ही ले जा सकता है । इसलिए लोभ के वश होकर चोरी का माल कभी नहीं खरीदना चाहिए । बाजार से

नी को छोड़कर सब स्त्रियों में माता, वहिन और पुत्री की रखनी चाहिए। इत्यादि।

कामुकता हिंसा है, अपराध है, आत्मा को अवनत करने है। इसलिए श्रावक इससे सदा बचकर रहता है। वह स्व-संतोष व्रत लेकर उत्तरोत्तर वासना को घटाता हुआ पूर्ण र्य की ओर अग्रसर होता जाता है। यह श्रावक का व्रत है। 卐

परिग्रह-परिमाण व्रत

परिग्रह वह भंयकर ग्राह है जिसने समस्त संसार को वुरी पकड़ रक्खा है। यह वह भंयकर बन्धन है जिसमें सारी या बंधकर परेशान हो रही है। आत्मिक शान्ति और विश्व न्त के लिए यह अत्यन्त घातक तत्त्व है। इसलिए जैन धर्म ने यात्मिक और साथ ही सामाजिक दृष्टिकोण से अपरिग्रह को में स्थान दिया है। सूत्रकृताङ्ग सूत्र के आरम्भ में ही परिग्रह बन्धन और दुःख का कारण कहा गया है और उसके बन्धन मुक्त होने की प्रेरणा की गई है।

परिग्रह का अर्थ है आसक्ति पूर्वक पदार्थों को ग्रहण करना र आवश्यकता से अधिक पदार्थों का स्वार्थ के निमित्त संग्रह रना। परिग्रह का मूल कारण लालसा और आसक्ति है। किन्तु सारिक सुखोपभोग के साधनों को अधिक से अधिक संगृहीत रना; यही आजकल के मानव का लक्ष्य विन्दु हो रहा है। यह स्पष्ट है कि इस के मूल में यह धारणा कार्य कर रही है कि न बाह्य साधनों में ही सुख है। इस भ्रान्त धारणा के कारण

को ओर पर्याप्त लक्ष्य देने से व्रत के पालन में सरलता होती है।

(१) आहार:– श्रावक को आहार ऐसा करना चाहिए जो विषय विकारों को उत्तेजित करने वाला न हो। इस व्रत के साथ आहार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आहार यदि सात्विक होता है तो विचार भी सात्विक होते हैं। तामसिक आहार विचारों को भी तामसिक बना देता है। इसलिए श्रावक मद्य, मांस, मादक पदार्थ और विषयों को भड़काने वाली औषधियों का कभी सेवन नहीं करता। वह सदा सात्विक भोजन ही करता है।

(२) फैशन:– यह सदाचार को नष्ट करने वाली डाइन है। इसके वश में पड़ा हुआ व्यक्ति सदाचार रूपी रत्न को गँवा देता है। अनेक युवक और युवतियाँ फैशन के चक्कर में फँसकर अपने पवित्र जीवन को कलंकित कर लेती हैं। इसलिए फैशन को तिलाञ्जलि देकर सादगी अपनानी चाहिए। सादगी पवित्रता की जननी है।

(३) विचार:– काम की उत्पत्ति विचारों और संकल्पों से होती है इसलिए मन में कभी बुरे भाव न लाने चाहिए। कभी निकम्मे [illegible] न बैठना चाहिए। निकम्मे बैठे रहने से मन में [illegible] घर कर लेते हैं इसलिए सदा कार्य में लगे रहना चाहिए। [illegible] मन में सदा पवित्र विचार रखने चाहिए। ऐसा करने से [illegible] का जन्म ही नहीं हो सकता।

(४) [illegible]:– [illegible] को उत्तेजित करने वाले वातावरण [illegible] चाहिए।

(५) [illegible] दृष्टि [illegible] रखना चाहिए।

मनुष्य अपनी सारी शक्ति लगाकर धन-दौलत, सोना-चाँदी, मोती-माणक-हीरे, बंगले, मोटर, बाग-बगीचे आदि जुटाने के लिए प्रयत्न करता है। वह इसमें सुख के दर्शन करना चाहता है परन्तु खेद है कि इन सब सामग्रियों के मिल जाने पर भी वह सुख से वञ्चित रहता है। जैसे २ पदार्थों की प्राप्ति होती जाती है वैसे २ इच्छाऔं और आकांक्षाओं का विस्तार होता जाता है। इसलिए पदार्थ-प्राप्ति में सुख का अनुभव नहीं होता अपितु अप्राप्त पदार्थ की कामना और उसका अभाव पीड़ित करता है। यही परम्परा चलती रहती है और इच्छाओं का गुलाम बना हुआ व्यक्ति कभी सुख की झांकी भी नहीं प्राप्त कर सकता है। कामनाएँ और आकांक्षाएँ उस पर सवार रहा करती हैं अतएव वह शान्ति और सुख का अनुभव नहीं कर पाता है। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि 'इच्छा हु आगास समा अणतिया' इच्छा आकाश के समान अनन्त है। उसका कहीं अन्त नहीं है। इसलिए इच्छाओं की पूर्ति करके सुख पाने का प्रयत्न करना चालनी को जल से भर देने के प्रयत्न के समान निष्फल है। संसार के समस्त अनुभवी और मनीषी महर्षियों ने अपने ठोस ज्ञान और अनुभव के आधार पर यह सत्य तत्त्व प्ररूपित किया है कि यदि तुम्हें सुख की इच्छा है तो उसे कहीं बाहर न खोजो, वह बाह्य वस्तुओं में नहीं है। वह है तुम्हारे अन्तरंग स्वरूप की प्रतीति में। उसे अपने अन्दर खोजो। उसका साक्षात्कार करना चाहते हो तो आत्मदर्शन करो। वहीं तुम्हें सुख का स्रोत प्रवाहित होता हुआ दृष्टिगोचर होगा। आत्मदर्शन करने के लिए यह भ्रान्ति अपने मन से दूर करनी होगी कि सुख बाह्य पदार्थों में है। जब तक यह भ्रान्ति बनी रहेगी तब तक आत्म-दर्शन नहीं हो सकता और आत्म-दर्शन बिना सच्चा सुख और शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः ब... पदार्थों का मोह दूर करना संसार के पदार्थों में आसक्ति न रखना

अर्थात् अपरिग्रही होना ही सुख और शान्ति पाने का एक मात्र साधन है। अपरिग्रह ही शान्ति का मूल है। यही सुख का स्रोत है। इसलिए जैन धर्म ने अपरिग्रह को व्रतों में प्रधान स्थान दिया है।

आत्म-शान्ति के साथ ही बाह्य विश्व में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिए भी 'अपरिग्रह' सिद्धान्त का पालन करना आवश्यक है। आज विश्व का वातावरण विक्षुब्ध और अशान्त हो रहा है, चारों तरफ युद्ध के बादल मंडराते हुए दृष्टि गोचर हो रहे हैं, वर्ग गत संघर्ष दिनोंदिन बढ़ रहे हैं, साम्यवाद और पूंजीवाद का संघर्ष भयानक स्थिति पर पहुंच रहा है और सारे विश्व में अशान्ति की ज्वाला धधक रही है। इसका एकमात्र कारण मानव की अमर्यादित महत्त्वाकांक्षा और लोलुप वृत्ति है। धन-दौलत का लोभ, जमीन का लोभ, अधिकार की भावना एवं एकाधिपत्य के मोह ने मानव के मस्तिष्क को अशान्त कर रखा है। उसकी सारी शक्ति दूसरों को अपने अधीन करने के लिए संहारक शस्त्रास्त्रों के निर्माण में लगी हुई है परमाणु बम के बाद उद्जन (HYDROZEN) बम के आविष्कार ने दुनिया को और भी अधिक भयभीत बना दिया है। जब तक मानव अपनी इच्छाओं पर अंकुश नहीं लगा लेता है तब तक यह अशान्ति बनी रहने वाली है। जब तक दुनिया के राजनैतिक अथवा आर्थिक क्षेत्र में विषमता बनी रहेगी तब तक क्रान्तियाँ अवश्यंभावी हैं और तब तक दुनिया को संघर्ष की आग में झुलसना ही पड़ेगा। इस विषमता का कारण परिग्रह वृत्ति है। यह मानना पड़ेगा कि एक ओर पहाड़ होगा तो दूसरी ओर खाई होगी। विश्व की सम्पत्ति जब एक जगह ढेर के ढेर रूप में संगृहीत होगी तो दूसरी तरफ उसका सर्वथा अभाव होगा। एक व्यक्ति के पास जब अत्यधिक

संग्रह हो जाता है तो दूसरे अनेकों व्यक्तियों को आवश्यक व[illegible]
से भी वंचित रहना पड़ता है। यह परिस्थिति शान्ति स्थ[illegible]
के लिए अत्यन्त भयानक है। शरीर के आरोग्य के लिए
आवश्यक है कि खून कहीं एक जगह एकत्रित न होकर सारे श[illegible]
में प्रवाहित होता रहे। यदि खून कहीं एक जगह एकत्रित
जाता है तो शरीर के दूसरे अवयव भी अशक्त हो जाते हैं
वह अवयव भी बेकार हो जाता है। फलतः सारा शरीर ग्रस[illegible]
हो जाता है। इसी तरह संसार के शरीर में धन रूपी खून
दौरा समान रूप से होने पर ही उसका स्वास्थ्य ठीक रह स[illegible]
है। वह धन यदि कहीं इकट्ठा हो जाता है तो दूसरे लोग नि[illegible]
हो जाते हैं और एकत्रित धन भी बेकार हो जाता है। अ[illegible]
आवश्यक है कि धन का कहीं अमर्यादित संग्रह न हो। वास्तवि[illegible]
समाजवाद और साम्यवाद का भी यही आशय है। विश्वशान्ति [illegible]
लिए इस सिद्धान्त के पालन की अनिवार्य आवश्यकता है। [illegible]
धर्म 'अपरिग्रह वाद' के द्वारा यही बात सिखाता है।

जो व्यक्ति संसार के समस्त पदार्थों से अपना ममत्व ह[illegible]
लेता है और केवल आत्म-साधना के लिए जीवन निर्वाह के लि[illegible]
अपनी कल्प मर्यादा के अनुकूल अल्प से अल्प बाह्य साधन ग्रह[illegible]
करता है वह अपरिग्रही है। अपरिग्रही होने के लिए मूर्छा क[illegible]
त्याग आवश्यक है। साधु, वस्त्र पात्र आदि रखते हुए भी उन[illegible]
मूर्छा न होने से अपरिग्रही कहे जाते हैं। पास में कुछ भी न होने
पर भी यदि चित्त में लालसा है तो वहां परिग्रह है। परिग्रह का
सम्बन्ध मनोवृत्तियों में रही हुई [illegible] है। अतः आसक्ति का
त्याग करना चाहिए। जैन धर्म [illegible] वुओं के लिए स[illegible]
अपरिग्रही होना आवश्यक बत[illegible] के [illegible]
की मर्यादा [illegible] र आरोग्य [illegible]

ाया गया है वही परिग्रह-परिमाण व्रत कहलाता है। गृहस्थ को ाम्नलिखित वस्तुओं के परिग्रह की मर्यादा करनी चाहिए :-

धन और धान्य

सोना, चांदी आदि

मकान, जमीन और जागीर

नौकर-चाकर और पशु-प्राणी

घर के दूसरे सामान।

उक्त वस्तुओं की यावज्जीवन के लिए मर्यादा निश्चत ार लेनी चाहिए। ऐसी मर्यादा कर लेने से उसके बाहर की ाच्छाओं का और तज्जन्य पाप का स्वयमेव प्रतिबन्ध हो जाता ।। मर्यादा निश्चित करते समय यह अवश्य भावना रखनी ाहिए कि धन-धान्य आदि पदार्थ वास्तविक रूप से मेरे नहीं है ाुझे इनके प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए. मैं अपनी कमजोरी ा इन्हें सर्वथा नहीं छोड़ सकता हूं अतः यथाशक्ति कम से कम ादार्थों का संग्रह करूं। आसक्ति कम करना, कम से कम परिग्रह रखना, इच्छाओं पर अंकुश रखना और संतोष का विकास करना ही इस मर्यादा का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति हो, इस रीति से मर्यादा करनी चाहिए।

मर्यादा कर लेने पर यदि उससे अधिक सम्पत्ति हो जाय तो उसे पुत्र, स्त्री आदि के नाम से रखना इस व्रत का दूषण है। मर्यादित सम्पत्ति की पूर्ति होने पर संतोष धारण करना चाहिए और अतिरिक्त आय को परमार्थ में लगा देना चाहिए। मर्यादित प्रमाण से अधिक सम्पत्ति होने पर उसे विविध बहानों या तरीकों से अपने काबू में रखना इस व्रत के अतिचार हैं। अतः अन्तः

अतिचार हैं। इन अतिचारों से बचते हुए अहिंसा और अपरिग्रह के साधन के लिए इस व्रत को स्वीकार करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है।

भोगोपभोग-परिणाम व्रत

आनन्द भोग के साधन असंख्य हैं। कितनेक पदार्थ एक ही वार काम में लिये जा सकते हैं और कितनेक अनेक वार भी काम में आते हैं। जो पदार्थ एक वार ही भोगाजाता है वह भोग कहा जाता है, जैसे अन्न, आदि। जो पदार्थ अनेक वार भी काम में आते हैं वे उपभोग कहे जाते हैं, जैसे वस्त्र, मकान, शय्या आभूषण आदि। भोग और उपभोग के साधनों से आसक्ति को परिग्रह को और हिंसा को उत्तेजन मिलता है। इन सब बाह्य भौतिक साधनों के उपभोग से हिंसा होती है, आशक्ति बढ़ती है और आत्मा वहिमुंख होती है। इसलिए इन साधनों का त्याग करना चाहिए। जो व्यक्ति सम्पूर्ण त्याग नहीं कर सकता उसे भोगोपभोग के साधनों की सख्या को मर्यादित करना चाहिए। यह मर्यादा एक दिन या अमुक समय तक के लिए की जा सकती है। भोगोपभोग के साधनों की इस मर्यादा को भोगोपभोग परिमाण व्रत कहा जाता है। यह दूसरा गुणव्रत है। ऐसा करने से आसक्ति कम होती है, त्याग भावना बढ़ती है और अहिंसा की भावना प्रबल बनती है [illegible] व्रत को पुष्ट करने वाला गुण व्रत [illegible] से व्यक्ति-गत आत्मिक लाभ [illegible] सामाजिक कर्तव्य का पालन भी [illegible] विशेष महत्त्व है।

भोगोपभोग के साधनों का वर्गीकरण करते हुए शास्त्रकारों ने छब्बीस भेदों का वर्णन किया है। वे इस प्रकार हैं :—

(१) शरीर पोंछने के लिए अंगोछे, टुवाल आदि की मर्यादा करना।

(२) दन्त मञ्जन और दतौन की मर्यादा करना।

(३) नहाने-धोने के काम में आने वाले आंवले-अरीठे आदि फल की जाति की मर्यादा करना।

(४) शरीर के सुख के निमित्त तैल, इत्र आदि की मर्यादा करना।

(५) पीठी आदि उवटन, साबुन, मिट्टी आदि की मर्यादा करना।

(६) स्नान करने के लिए पानी की मर्यादा करना।

(७) पहनने, ओढ़ने, बिछाने के सूती, ऊनी, रेशमी, जरी के और अन्य प्रकार के वस्त्रों की मर्यादा करना।

(८) शरीर पर लेप करने के द्रव्य-चन्दन, केशर, कपूर आदि की मर्यादा करना।

(९) गुलाब, मोगरा, आदि फूलों की मर्यादा करना।

(१०) पहनने के आभूषणों की मर्यादा करना।

(११) धूप द्रव्यों की मर्यादा करना।

(१२) पेय-दूध, शरबत, चाय आदि पदार्थों की मर्यादा करना।

(१३) मिष्टान्न की मर्यादा करना।

(१४) चावल, खिचड़ी, थूली आदि रन्धन की मर्यादा करना।

(१५) दाल की जाति की मर्यादा करना।

(१६) दूध, दही, घी, तेल, मिठाई रूप पांच विकृति (विगय) की मर्यादा करना। मक्खन, शहद आदि महाविकृतियों का त्याग करना। औषधि के निमित्त छूट रखी जा सकती है।

(१७) [illegible] को मर्यादा करना ।

(१८) [illegible] आदि [illegible] की मर्यादा करना ।

(१९) भोजन की मर्यादा करना । कितनी बार और कितना इसकी मर्यादा करना ।

(२०) पानी की मर्यादा करना ।

(२१) ताम्बूल, इलायची, सुपारी आदि मुखवास की जातियों की मर्यादा करना ।

(२२) वाहन– गाड़ी, घोड़ा, ऊँट, बैल, मोटर, रेल, बग्घी, तांगा, जहाज, वायुयान आदि की मर्यादा करना ।

(२३) पांव में पहनने के बूट, जूते, मोजे आदि की मर्यादा करना ।

(२४) सचित्त और अचित वस्तुओं की मर्यादा करना ।

(२५) पलंग, खाट, कुर्सी, टेबल आदि सोने-बैठने के फर्नीचर की मर्यादा करना ।

(२६) सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के कुल द्रव्यों की संख्या निश्चित करना ।

उक्त छब्बीस प्रकारों में प्रायः भोगोपभोग के साधनों का समावेश हो जाता है । अतः आसक्ति को घटाने के लिए, बहिर्मुखता को कम कर अन्तर्मुख बनने के लिए और सामाजिक दोषों से बचने के लिए भोगोपभोग के साधनों की अवश्य मर्यादा करनी चाहिए । इसके अतिरिक्त दुनिया में कई अभक्ष्य पदार्थ खाने के काम में लिए जाते हैं, उनका विवेकी गृहस्थ को सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

इस व्रत के पांच अतिचार हैं:- सचित्त वस्तु का त्याग करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा-सचित्तका आहार करना, सचित्त से सम्बद्ध वस्तु का आहार करना, अचित्त और सचित्त मिश्र का आहार करना, अनेक द्रव्यों के संयोग से बने हुए मदिरा, सौवीर आदि का आहार करना, पूरी तरह नहीं पके हुए सचित्त पदार्थ आहार करना-ये पांच अतिचार कहे गये हैं। जानबूझ कर ा करने से तो व्रत का भंग होता है परन्तु बिना उपयोग ऐसा ा की अवस्था में ये अतिचार कहे गये हैं। अपक्व औषधि और छ औषधि (असार वस्तु) का भक्षण करना भी अतिचार ाये गये हैं। यहां मिश्र और अभिपव नहीं बताये गये हैं।

भोगोपभोग परिमाण व्रत दो प्रकार का है:- प्रथम भोजन म्बन्धी और दूसरा कर्म (व्यापार) सम्बन्धी व्रत का वर्णन ऊपर किया जा चुका है अब व्यापार सम्बन्धी व्रत का वर्णन किया जाता है :—

श्रावक आजीविका के साधन का चुनाव करते हुए इस बात का ध्यान रखता है कि वह आजीविका महारम्भ-निष्पन्न न हो। महारम्भ निष्पन्न आजीविका श्रावक के लिए वर्जनीय है। जिस व्यापार से महा-आरम्भ होता है उसे श्रावक नहीं करता है। शास्त्रकारों ने ऐसे पन्द्रह व्यापार बताये हैं जो महा-पाप के कारण होने से कर्मादान कहे जाते हैं और जिनका परित्याग करना श्रावक के लिए अनिवार्य है। वे इस प्रकार हैं :—

(१) अंगार कर्म:- लकड़ी के कोयले बनाकर बेचने का व्यापार करना। तथा जिस में अधिक प्रमाण में अग्नि-प्रयोग करना पड़े ऐसे व्यापार करना।

(१३) दावाग्नि कर्मः– वन में आग लगाने का व्यवसाय करना। उत्तरापथ में ऐसी रीति है कि अधिक घास उत्पन्न करने के लिए खेत में आग लगाई जाती है।

(१४) सरोवरादि परिशोषण कर्मः– जल के स्थान तालाब आदि को सुखाने का धन्धा करना।

(१५) असती पोषण कर्मः– व्यभिचारिणी स्त्रियों का पोषण कर उनके द्वारा आजीविका करना। अथवा तोता, मैना, बिल्ली, कुत्ता, बाज आदि का धन कमाने के लिए पोषण करना।

ये पन्द्रह कर्मादान है। इन्हें उपलक्षण समझना चाहिए। इनके समान महा-आरम्भ वाले अन्य भी व्यवसायों का परित्याग करना चाहिए। अल्प आरम्भ और अल्प-परिग्रह को लक्ष्य में रखकर व्यवसाय करना चाहिए। यह सातवां भोगोपभोग परिणाम व्रत है 卐

अनर्थदण्ड विरमण व्रत

मन की विविध प्रकार की वृत्तियां भी हिंसा को प्रेरणा देती रहती हैं। यह मानसिक हिंसा श्रावक के लिए वर्जनीय है। अप्राप्त भोगों की लालसा, प्राप्त भोगों को टिकाए रखने की चिन्ता, बुरे विचार, कुयुक्तियां आदि के अपध्यान में निष्प्रयोजन हिंसा होती है। कुतूहल से गीत, नृत्य, नाटक-सिनेमा देखना, कामशास्त्र में आसक्ति रखना, द्यूत-मद्य आदि का सेवन करना, जल-क्रीडा, झूला-झूलना, पशु पक्षियों में परस्पर युद्ध कराना, शत्रु के पुत्र स्त्री आदि से वैर लेना, आहार-स्त्री-देश और राजा की निरर्थक कथा करना, अत्यधिक निद्रा लेना, घी, तेल आदि के वर्तनों को खुला रखना इत्यादि प्रमाद के आचरण से भी हिंसा

(१३) दावाग्नि कर्मः– वन में आग लगाने का व्यवसाय करना। उत्तरापथ में ऐसी रीति है कि अधिक घास उत्पन्न करने के लिए खेत में आग लगाई जाती है।

(१४) सरोवरादि परिशोषण कर्मः– जल के स्थान तालाब आदि को सुखाने का धन्धा करना।

(१५) असती पोषण कर्मः– व्यभिचारिणी स्त्रियों का पोषण कर उनके द्वारा आजीविका करना। अथवा तोता, मैना, बिल्ली, कुत्ता, बाज आदि का धन कमाने के लिए पोषण करना।

ये पन्द्रह कर्मादान है। इन्हें उपलक्षण समझना चाहिए। इनके समान महा-आरम्भ वाले अन्य भी व्यवसायों का परित्याग करना चाहिए। अल्प आरम्भ और अल्प-परिग्रह को लक्ष्य में रखकर व्यवसाय करना चाहिए। यह सातवां भोगोपभोग परिणाम व्रत है 卐

अनर्थदण्ड विरमण व्रत

मन की विविध प्रकार की वृत्तियां भी हिंसा को प्रेरणा देती रहती हैं। यह मानसिक हिंसा श्रावक के लिए वर्जनीय है। अप्राप्त भोगों की लालसा, प्राप्त भोगों को टिकाए रखने की चिन्ता, बुरे विचार, कुयुक्तियां आदि के अपध्यान में निष्प्रयोजन हिंसा होती है। कुतूहल से गीत, नृत्य, नाटक-सिनेमा देखना, कामशास्त्र में आसक्ति रखना, द्यूत-मद्य आदि का सेवन करना, जल-क्रीडा, झूला-झूलना, पशु पक्षियों में परस्पर युद्ध कराना, शत्रु के पुत्र स्त्री आदि से वैर लेना, आहार-स्त्री-देश और राजा की निरर्थक कथा करना, अत्यधिक निद्रा लेना, घी, तेल आदि के वर्तनों को खुला रखना इत्यादि प्रमाद के आचरण से भी हिंसा

सामायिक व्रत

समता भाव के विकास और अभ्यास के लिए, लिये हुए व्रतों की स्मृति को ताजी रखने के लिए, अनात्म-भाव पर आत्म-भाव की विजय सिद्धि के लिए और आत्म-चिन्तन के लिए प्रतिदिन ४८ मिनट तक एकान्त-शान्त स्थान में बैठकर सब प्रकार के पापमय व्यापारों का परित्याग करना सामायिक व्रत है। ईश्वरोपासना एवं आत्मोपासना का यह सर्वोत्तम साधन है। आत्मा का साक्षात्कार करने और उसकी अनुपम विभूति के दर्शन करने का यह चामत्कारिक प्रयोग है। यह बाह्य संसार के अशान्त वातारण से दूर होकर अन्तर्जगत् के सुरम्य नन्दन वन में विहार करने का प्रवेश-द्वार है। अशान्ति की ज्वालाओं में जलते हुए जीवों को शान्ति प्रदान करने के लिए यह शीतल मन्दाकिनी है। संसार के दुःख-दावानल की शान्ति के लिए यह महामेघ की धारा है। यह मोह-महारोग को निर्मूल कर आध्यात्मिक जीवन प्रदान करने वाली संजीवनी है।

सामायिक की महिमा अपार है। यह वह लोकोत्तर रत्न है जिसकी कीमत नहीं हो सकती। सारी दुनिया की सम्पत्ति की एकत्रित राशि से भी इसका मोल नहीं हो सकता। मगध का सम्राट् श्रेणिक अपनी अपरिमित धनराशि से भी पूणिया श्रावक की एक सामायिक का मोल कर सकने में असमर्थ रहा। तात्पर्य यह है कि जिसने इस व्रत की साधना के द्वारा आत्मा के अनुपम सौन्दर्य और अलौकिक ऐश्वर्य का अनुभव कर लिया वह संसार की समस्त सम्पत्ति को तृण तुल्य तुच्छ समझता है। आत्मा के ऐश्वर्य के आगे जड़ ऐश्वर्य का क्या मोल? हीरे के आगे काँच की क्या कीमत? मौक्तिक के सन्मुख गुञ्जाफल की क्या बिसात?

सम्पूर्ण सामायिक व्रती के जीवन में पाप-प्रवृत्ति होती ही नहीं। उसका समग्र जीवन सामायिक मय ही होता है। वह अहिंसा और सत्य का सम्पूर्ण पुजारी होता है। इसे शास्त्रीय भाषा में 'परिपूर्ण सामायिक-चारित्र' कहते हैं। जो व्यक्ति ऐसा परिपूर्ण सामायिक-चरित्र अंगीकार नहीं कर सकता है उसे अल्प-कालिक सामायिक-व्रत अंगीकार करना चाहिए। ४८ मिनट के मर्यादित समय तक किसी प्रकार की पापमय प्रवृत्ति न करने का व्रत लेने से यह मालूम हो जाता है कि आजीवन पाप-प्रवृत्ति को छोड़ देने की महिमा कैसी है। अल्पकालीन व्रत-स्वीकार से भी जीवन में शान्ति का अनुभव होने लगता है तो यावज्जीवन सामायिक व्रत के स्वीकार से मिलने वाली शान्ति का तो क्या कहना!

मनुष्य का मन हमेशा एकसी स्थिति में नहीं रहता। [illegible] शक्ति सदा एकसी काम नहीं देती। इसलिए [illegible] और [illegible] के समय कार्यक्रम का बराबर निर्णय [illegible]। ऐसी स्थिति में अपनी दृढ़ता को कायम [illegible] की आवश्यकता है। प्रतिदिन [illegible] के लिए नियमित रूप से थोड़ा समय [illegible] है, [illegible] शान्ति का [illegible]। सामायिक [illegible] है।

करना (२) निरर्थक, कठोर और सावद्य भाषा बोलना (३) मन से किसी भी प्रकार का अशुभ चिन्तन करना। (४) सामायिक में उत्साह न रखना अर्थात् जैसे-तैसे प्रवृत्ति करना या सामायिक का समय हो जाने पर भी आलस्य से उसमें प्रवृत्त न होना (५) चित्त की अव्यवस्थितता के कारण सामायिक की स्मृति न रहना या सामायिक के समय का ध्यान न होने से समय से पूर्व ही पारलेना अनुपयोग से यदि ऐसा हो तो ही ये अति चार है। जानबूझ कर ऐसा करने से तो व्रत का भंग होता है। अतः अतिचारों से और सामायिक के बत्तीस दोषों से बचकर प्रतिदिन शुद्ध अन्तः करण पूर्वक सामायिक करनी चाहिए। शुद्ध भावना से की हुई सामायिक हजारों भवों के संचित कर्मों को नष्ट कर देती है। आत्म शान्ति और आत्म शुद्धि के लिए इस व्रत की निर्मल आराधना करना अत्यन्त उपयोगी और कल्याणकारी है।

देशावकाशिक व्रत

दिग्व्रत में आजीवन के लिए दसों दिशाओं में जाने-आने की मर्यादा की जाती है। उसमें बहुत विस्तृत क्षेत्र रखा जाता है। प्रतिदिन उतने विस्तृत क्षेत्र में गमनागमन करने का प्रसंग नहीं आता है इसलिए दिग्व्रत में रखे हुए क्षेत्र को एक दिन-रात के लिए यथाशक्य संक्षिप्त करना देशावकाशिक व्रत हैं। उदाहरणार्थ दिग्व्रत में ५०० पांच सौ मील एक दिशा में जाने की मर्यादा हो मगर उतना ही प्रतिदिन जाने का प्रसंग उपस्थित नहीं होता इस लिए एक दिन रात के लिए सुविधानुसार ५-६ मील से आगे न जाने का व्रत ग्रहण करना देशावकाशिक व्रत कहलाता है। सातवे व्रत में द्रव्यादि के भोगोपभोग की जो मर्यादा की है उसके अन्दर रहते हुए उस दिन के लिए भोगोपभोग के साधनों को और भी संक्षिप्त

किया जाता है। इस तरह यह व्रत छठे और सातवें व्रत में चुनी रखी हुई मर्यादा को अमुक काल के लिए संक्षिप्त करने वाला व्रत है। इस व्रत के पालन से मर्यादित क्षेत्र से बाहर होने वाले आस्रव और आरम्भों से बचाव होता है और लोभ, स्वार्थ, द्रोह, अधिकार एवं सत्ता के विस्तार की भावना पर अंकुश लग जाता है। क्षेत्र मर्यादित करने से पाप-प्रवृत्ति भी मर्यादित हो जाती है।

इस व्रत के पांच अतिचार हैं:- (१) नियमित किये हुए क्षेत्र के बाहर से संदेशादि के द्वारा कोई वस्तु मंगवाना (२) किसी व्यक्ति को मर्यादित क्षेत्र से बाहर भेजना (३) शब्द करके बाहर की वस्तु मंगवाना (४) आंख आदि के संकेत से क्षेत्र से बाहर की वस्तु मंगवाना और (५) सीमा से बाहर के मनुष्य को बुलाने के लिए या बताने के लिए कंकर आदि फेंकना। इन अतिचारों से बचकर इस व्रत की निर्मल आराधना करनी चाहिए। यह दूसरा शिक्षा व्रत है। इससे भोगोपभोग के साधनों और दिशाओं के प्रमाण को अल्प और अल्पतर करने का अभ्यास होता है। अभ्यास रूप होने के कारण ही यह शिक्षाव्रत कहलाता है।

पौषधोपवास व्रत

पर्वतिथियों के दिन अशन-पान-खादिम और स्वादिम इ चारों प्रकार के आहार का त्याग करना (निर्जल उपवास करना) स्नान विलेपन, गंध, पुष्पमाला, अलंकार आदि का त्याग करना, अब्रह्म का सर्वथा त्याग करना, सावद्य प्रवृत्ति का सर्वथा परित्याग करना और आठों प्रहर धर्म चिन्तन करते आत्मा को पुष्ट कर पौषधोपवास व्रत कहलाता है। इस व्रत के आराधन से आत्मध को प्रबल पुष्टि मिलती है, आत्मा के साथ पूरा सानिध्य होता

ा (२) इसी बुद्धि से सचित्त वस्तु से ढंक देना (३) किसी को छ देना न पड़े इस भावना से भिक्षा के समय से पूर्व या पश्चात् ना पीना (४) अपनी देय वस्तु को नहीं देने की भावना से "यह रे की है" ऐसा कह कर अपने आप को पूर्वक बचा लेना और) दूसरे के दानगुण की ईर्षा से दान देने के लिए प्रेरित होना थवा दान करते हुए भी दान में आदरभाव न रखना। इन अति-ारों से बचते हुए शुद्ध अन्तः करण पूर्वक दान धर्म का पालन रना चाहिए। यह बारहवाँ व्रत और चतुर्थ शिक्षाव्रत हुआ।

इन बारहव्रतों का ध्यान पूर्वक अध्ययन करने से यह स्पष्ट तीत हो जाता है कि इनमें से प्रत्येक व्रत में अहिंसा और आत्म ंयम की गहरी भावना है। ये चारित्र और धार्मिक कल्याण के ूल्यवान् नियम है। इनकी निर्मल आराधना में शाश्वत कल्याण ौर मुक्ति-पथ पर प्रयाण अन्तर्हित है।

(महावीर) अभय प्रदाता

सुन मूक प्राणियों का क्रन्दन,
हृदय तुम्हारा द्रवित हुआ।
देख जगत में हिंसा—हत्या,
हृदय तुम्हारा व्यथित हुआ॥
तुम जग के ज्ञाता थे 'प्रियशिष्य',
दीनों को अभय प्रदाता थे।
देख जगत में आडम्बर शौर्य,
भाव तुम्हारा उदित हुआ॥१॥

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं

श्रावक सम्यक्त्व पूर्वक बारह व्रत धारण करता है, कि
यह इतना करके ही नहीं रुक जाता है। वह इन व्रतों का निरति
चार पालन करने के लिए, विशेष रूप से अनुशीलन करने के लि
और इनमें ठोस दृढ़ता लाने के लिए विशेष प्रकार की प्रतिज्ञ
लेता है। शास्त्र में इस प्रकार की विशेष प्रतिज्ञाओं को प्रति
(पडिमा) कहा गया है। शास्त्रकारों ने श्रावक की ग्यारह प्र
माओं का निरूपण किया है। उन प्रतिमाओं के नाम और स्व
इस प्रकार है :—

(१) दर्शन प्रतिमा (२) व्रत प्रतिमा (३) सामायिक प्र
(४) पौषधोपवास प्रतिमा (५) एक रात्रि की कायोत्सर्ग प्र
(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा (७) सचित्त त्याग प्रतिमा (८) आ
त्याग प्रतिमा (९) प्रेष्य त्याग प्रतिमा (१०)अनुमति-उद्दिष्ट
प्रतिमा और (११) श्रमणभूत प्रतिमा।

(१) दर्शन प्रतिमाः— वैसे तो सम्यग्दर्शन होने के पश्चात
वास्तविक श्रावकत्व आता है अतः बारह व्रत धारण कर
सम्यग्दर्शन का स्वयमेव उसमें अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसी
में पुनः दर्शन प्रतिमा स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है?
शंका हो सकती है। इसका समाधान यह है कि व्रत ग्रहण से पू
जो सत्य तत्त्वाभिरूचि रूप दर्शन होता है उसमें अतिचारों
लगने की सम्भावना रहती है। सम्यग्दर्शन और व्रतग्रहण
पश्चात् भी दर्शन में मलिनता रह सकती है। अतएव उस
निराकरण करने के लिए और पूर्वगृहीत सम्यक्त्व का शंका कां
आदि अतिचारों से सर्वथा दूर रहकर शुद्धरीति से पालन करने

लिए दर्शन प्रतिमा स्वीकार की जाती है। इस प्रतिमा का समय एक मास है। एक मास पर्यन्त दर्शन में किसी प्रकार की मलिनता न आने देना और दर्शन को परिपूर्णता पर पहुंचा देना इस प्रतिमा का प्रयोजन है।

(२) व्रत प्रतिमाः— दर्शन की परिपूर्णता— दृढ़ता हो जाने के पश्चात् व्रतों को दृढ़ करना होता है, अतः पूर्व स्वीकृत व्रतों को विशेष दृढ़ करने के लिए यह प्रतिमा स्वीकार की जाती है। यहां से पांच अणुव्रत, गुणव्रत आदि व्रतों का निर्मल-निरतिचार रूप से पालन किया जाता है। परन्तु सामायिक व्रत और देशावकाशिक व्रत का पालन पहले की तरह ही किया जाता है। अर्थात् इन व्रतों को छोड़कर शेष व्रतों का अतिचार-रहित निर्मल रीति से पालन किया जाता है। इसका समय दो मास का है।

(३) सामायिक प्रतिमाः— इस प्रतिमा में सामायिक और देशावकाशिक व्रत का भी निरतिचार-विशुद्धि रीति से दृढ़तापूर्वक पालन किया जाता है परन्तु पर्व तिथियों पर किये जाने वाले पौषध व्रत का निरतिचार पालन करने में शिथिलता रह जाती है। इस प्रतिमा में पौषध व्रत को छोड़कर शेष व्रतों का निरतिचार पालन और आराधन किया जाता है। इसका समय तीन मास का है।

(४) पौषधोपवास प्रतिमाः— इस प्रतिमा में पौषध [illegible] निरतिचार पालन व आराधन किया जाता है। अष्टमी, [illegible] पूर्णिमा और अमावस्या को उपवास युक्त पौषध [illegible] आराधना करना, इसका प्रयोजन है। इसकी अवधि [illegible]

(५) एक रात्रिकी कायोत्सर्ग प्रतिमाः— इस [illegible]

गृहस्थ अपनी फाल्गुनी नामक पत्नी के साथ रहता था। उसके पास १२ करोड़ सोनैयों का धन और चालीस हजार गाएं थी। भगवान् महावीर से उसने बारह व्रत स्वीकार किये और कामदेव की तरह जेष्ठपुत्र को कार्यभार सौंपकर धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार कर रहने लगा। ग्यारह प्रतिमाओं का निर्विघ्न पालन किया। २० वर्ष श्रमणोपासक की स्थिति में रहकर संलेखना पूर्वक समाधिमरण से मरकर अरूणकील नामक विमान में देव हुआ। वहां से महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त होगा।

उक्त दस श्रावकों के जीवन की रूपरेखा देखने से प्रतीत होता है कि इतनी २ सम्पत्ति, कुटुम्ब और गोधन होते हुए भी

श्रावकगण निर्लेप रहकर निवृत्ति की भावना करते थे। सब श्रावकों ने व्रत लेते के समय अपने पास की सम्पत्ति से अधिक सम्पत्ति बढ़ाने का त्याग किया था। उस समय के श्रावक अपनी सम्पत्ति के एक तिहाई भाग से ही व्यापार करते थे। इसका कारण यह था कि उनकी तृष्णा अधिक नहीं थी। व्यवसाय करने में भी स्वार्थ की जघन्य भावना न थी बल्कि कई व्यक्तियों के पोषण की भावना थी। वे अल्पदोष वाला और नीति प्रधान व्यवसाय करते थे।

एक तरफ जहां हम इन करोड़ों की सम्पत्ति के स्वामी गृहस्थों के श्रावक-जीवन का वर्णन पाते हैं वहां दूसरी ओर पूणिया श्रावक का भी पुण्य वर्णन पाते हैं जिसके पास केवल बारह आने की पूंजी होने का कहा जाता है। पूणिया श्रावक रूई की पूणियां बेचते थे और उससे निर्वाह जितना मिल जाने पर व्यवसाय बन्द कर देते और धर्ममय जीवन व्यतीत करते। उनका जीवन बड़ा संतोषमय था।

इतनी अल्पमय पूंजी होने पर भी इन्हें जो सुख उपलब्ध था वह बड़े २ श्रीमन्तों, राजा महाराजाओं और इन्द्र तक को नहीं था। इनकी सामायिक इतनी विशुद्ध और अनमोल थी कि सम्राटों के अक्षय कोषों से भी उनका मोल नहीं हो सकता था। मगध नरेश श्रेणिक को भगवान महावीर ने नरक से बचने के चार उपाय बताये थे उनमें से एक उपाय यह भी था कि यदि तुम पूणिया श्रावक की एक समायिक खरीद लो तो नरक से बच सकते हो। मगध नरेश अपना सारा खजाना, अपना सारा वैभव पूणिया श्रावक को उनकी एक सामायिक के मोल के रूप में देने लगे [illegible] दृष्टि में इस जड़

निर्लोभी [illegible]

[illegible] लेकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त होगा।

(९) नंदिनीपिता:- श्रावस्ती नगरी में नंदिनीपिता नामक गृहपति रहता था। उसकी पत्नी का नाम अश्विनी था। उसके पास १२ करोड़ सोनैयों का धन और चालीस हजार गायें थीं। उसने कोष्ठक चैत्य में पधारे हुए भगवान् महावीर से आनन्द श्रावक की तरह श्रावक-धर्म स्वीकार किया। १४ वर्ष व्रतों का पालन करने के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र को भार सौंप कर धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार कर वह पौषधशाला में रहने लगा। कुल २० वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय में रह कर संलेखना पूर्वक समाधिमरण से मरकर सौधर्म देवलोक के अरुणगव विमान में देव हुआ और महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त होगा।

(१०) सालिहीपिया:- श्रावस्ती नगरी में सालिहीपिया नाम का गृहस्थ अपनी फाल्गुनी नामक पत्नी के साथ रहता था। उसके पास १२ करोड़ सोनियों का धन और चालीस हजार गाएँ थी। भगवान् महावीर से उसने बारह व्रत स्वीकार किये और कामदेव की तरह जेष्ठपुत्र को कार्यभार सौंपकर धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार कर रहने लगा। ग्यारह प्रतिमाओं का निर्विघ्न पालन किया। २० वर्ष श्रमणोपासक की स्थिति में रहकर संलेखना पूर्वक समाधिमरण से मरकर अरूणकील नामक विमान में देव हुआ। वहां से महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त होगा।

उक्त दस श्रावकों के जीवन की रूपरेखा देखने से प्रतीत होता है कि इतनी २ सम्पत्ति, कुटुम्ब और गोधन होते हुए भी

श्रावकगण निरन्तर बढ़कर निवृत्ति की भावना करते थे। सब श्रावकों ने व्रत लेने के समय अपने पास की सम्पत्ति से अधिक सम्पत्ति बढ़ाने का त्याग किया था। उस समय के श्रावक अपनी सम्पत्ति के एक तिहाई भाग से ही व्यापार करते थे। इसका कारण यह था कि उनकी तृष्णा अधिक नहीं थी। व्यवसाय करने में भी स्वार्थ की अधम भावना न थी बल्कि कई व्यक्तियों के पोषण की भावना थी। वे अल्पदोष वाला और नीति प्रधान व्यवसाय करते थे।

एक तरफ जहां हम इन करोड़ों की सम्पत्ति के स्वामी गृहस्थों के श्रावक-जीवन का वर्णन पाते हैं वहां दूसरी ओर पूणिया श्रावक का भी पुण्य वर्णन पाते हैं जिसके पास केवल बारह आने की पूंजी होने का कहा जाता है। पूणिया श्रावक रूई की पूणियां बेचते थे और उससे निर्वाह जितना मिल जाने पर व्यवसाय बन्द कर देते और धर्ममय जीवन व्यतीत करते। उनका जीवन बड़ा संतोषमय था।

इतनी अल्पतम पूंजी होने पर भी इन्हें जो सुख उपलब्ध था वह बड़े २ श्रीमन्तों, राजा महाराजाओं और इन्द्र तक को नहीं था। इनकी सामायिक इतनी विशुद्ध और अनमोल थी कि सम्राटों के अक्षय कोषों से भी उनका मोल नहीं हो सकता था। मगध नरेश श्रेणिक को भगवान महावीर ने नरक से बचने के चार उपाय बताये थे उनमें से एक उपाय यह भी था कि यदि तुम पूणिया श्रावक की एक सामायिक खरीद लो तो नरक से बच सकते हो। मगध नरेश अपना सारा खजाना, अपना सारा वैभव पूणिया श्रावक को उनकी एक सामायिक के मोल के रूप में देने लगे लेकिन निर्लोभी एवं समता-भाव के उपासक की दृष्टि में इस जड़

सुमतिचन्द्र ने कहा-जिसका हार चुराया है उसी के यहां क्या वही हार गिरवी रखने जाने की सलाह देकर क्या तुम मुझे जेल में भेजना चाहती हो ? क्या मैं तुम्हारी बात मानकर अपनी और अपने कुल की प्रतिष्ठा को धूल में मिला दूँ ? नहीं सुशीला ! यह मुझसे नहीं हो सकेगा ।

सुशीला ने कहा-नाथ ! आप अभी जिनदास सेठ के स्वभाव को नहीं जानते हैं । वे सच्चे श्रावक हैं । वे ऐसा कभी नहीं कर सकते। मुझे विश्वास है कि अब अपने दिन बदल गये हैं । आप इतना साहस अवश्य करिये । इसका परिणाम अच्छा ही होगा ।

इस प्रकार सुमतिचन्द्र को विविध रीति से समझाकर दूसरे दिन प्रातःकाल जिनदास सेठ की दुकान पर हार गिरवी रखने जाने के लिए सुशीला ने तैयार कर दिया ।

उधर जिनदास सेठ प्रतिक्रमण करने के पश्चात् स्तवन आदि से निवृत्त होकर आत्मविचारणा में लीन हो गये । उन्हें विचार आया कि मेरे पास पर्याप्त सम्पत्ति है तो इसका किस प्रकार सदुपयोग करूँ और इस धन पर से अपना ममत्व किस प्रकार कम करूँ ? इसी विचारधारा में वे लीन थे । वे जब मुनिजी के साथ धर्मचर्चा करने गये तब भी उन्होंने मुनिजी के सामने यही बात रखी । मुनिश्री ने उन्हें उपदेश दिया । उसे धारण कर अपनी धर्मक्रिया का समय पूर्ण होने पर वे घर जाने के लिए वस्त्र पहनने लगे । उस समय सहसा उन्हें हार का ध्यान आया । उन्होंने पोटली खोल कर देखी परन्तु उसमें हार नहीं था । आसपास देखा परन्तु हार का कहीं पता नहीं चला । "तो क्या उपाश्रय में चोरी हो सकती है ? क्या मेरे कोई स्वाधर्मी भाई चोरी कर सकता है ? खैर जो हुआ सो ठीक । कोई स्वधर्मी भाई संकट में पड़ा होगा

जिससे प्रेरित होकर उसने धर्मस्थान में जघन्य कार्य करने साहस किया। चाहिए तो यह, कि मैं अपने धर्मबन्धुओं की स्थि का अन्तरंग पता लगता और यह जानने की कोशिश करता कौन दुखी है? कौन संकट ग्रस्त है? किसे जीवन निर्वाह आवश्यक वस्तुएँ नहीं मिलती हैं? मैंने अपने कर्त्तव्य का पाल नहीं किया जिसके कारण मेरे किसी भाई को इस कार्य का आश्र लेना पड़ा। इसमें उसका कोई दोष नहीं है। मेरी ही अपराध है। इस प्रकार विचार कर हार के चले जाने की चर्चा न करते हुए तथा स्वधर्मी बन्धुओं की विशेष रूप से सहायता करने का संकल करते हुए वे अपने घर चले गये। हार के चले जाने से उन्हें दु नहीं हुआ किन्तु इस बात की प्रसन्नता हुई कि इस निमित्त से उन्हे स्वधर्मी बन्धुओं की सहायता करने की भव्य प्रेरणा प्राप्त हुई। हार खोकर भी सेठ जिनदास ने भव्य आत्मिक उपहार प्राप्त किया अतः उन्हें प्रसन्नता थी।

प्रातः काल धर्मक्रिया आदि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर सेठ जिनदास अपनी दुकान पर पहुंचे। इसी समय सुमति-चन्द्र भी सुशीला से प्रेरणा प्राप्त करने पर भी शंकित हृदय होकर जिनदास सेठ की दुकान पर पहुंचा। जिनदास सेठ ने उठकर उसका सत्कार किया और अपने पास बराबर के आसन पर बिठाया। उसके बाद जिनदास सेठ ने बड़े प्रेम के साथ पूछा कि आज आपका किस प्रयोजन से पधारना हुआ? सुमतिचन्द्र ने [illegible] निकाला और कहा कि [illegible] रख कर मुझे [illegible]। सुमतिचन्द्र के हार निकालते ही [illegible]

हो कभी उन्होंने देखा ही न हो, आज प्रथम वार ही उसकी
कीमत का अन्दाज लगाने के लिए देख रहे हों। मुनीमों की सशंक
दृष्टि का निराकरण करते हुए वे वोले-इनके पिता के साथ मेरा
खूब परिचय था। वे वड़े ऋद्धि सम्पन्न थे। उनके घर में ऐसी वहु
मूल्य चीजे हो इसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं। संसार में एक
सरीखी कई वस्तुएँ हो सकती हैं ?

इसके पश्चात् जिनदास सेठ ने कहा-भाई ! तुम मेरे मित्र
के पुत्र हो। यह हार भी लेजाओ और तुम्हें जितने रूपयों की
जरुरत हों वे भी ले जाओ। हार की कोई आवश्यकता नहीं है।
सुमतिचन्द्र जिनदास सेठ की महानता देखकर दंग रह गया। उसने
कहा नहीं यह हार आपके यहीं रहने दीजिए। आखिर हार सुमति
चन्द्र के नाम की चिट्ठी लगाकर तिजोरी में रखदिया गया और
सुमतिचन्द्र को पाँच हजार रूपये देने के लिए मुनीम को कह दिया
मुनीम ने पाँच हजार रूपये दे दिये। इसके वाद जिनदास सेठ ने
कहा "और भी जव आपको आवश्यकता पड़े तव निःसंकोच आप
यहाँ से रुपये लेजा सकते हैं।"

जिनदास सेठ की इतनी महानता, उदारता और विशाल
हृदयता देखकर सुमतिचन्द्र चकित रह गया। उसे सुशीला की
बुद्धि पर गौरव अनुभव हुआ। उसने उन रुपयों से व्यापार आरम्भ
किया और थोड़े ही समय में प्रामाणिकता, बुद्धि कौशल और परि
श्रम की वदौलत उसका व्यापार चमक उठा वह भी थोड़े ही समय
में एक श्रीमन्त व्यापारी के रूप में प्रसिद्ध हो गया। सुशीला और
सुमतिचन्द्र का जीवन सम्पत्ति प्राप्त करने के पश्चात् भी अपनी
स्वाभाविक गति से प्रवाहित होता रहा।

... ने सुमतिचन्द्र से कहा अब हमें सेठ

माता को और बालक को सूर्य के दर्शन कराये जाते हैं। इस प्रसंग पर वे दोनों सुखी हों ऐसे मंत्र पढ़े जाते हैं। सन्ध्या के समय तारापति चन्द्र के दर्शन इसी तरह कराये जाते हैं। यह सुर्येन्द्र दर्शन संस्कार कहा जाता है।

(४) **क्षीराशन:**– इसी दिन माता बालक को अपने स्तनों का दूध पिलाना प्रारम्भ करती है। इस विषयक विधि गृहस्थ गुरु मंत्रों द्वारा कराते हैं। इन मंत्रों से बालक के नीरोग और दीर्घायु होने का आशीर्वाद दिया जाता है।

(५) **षष्ठी संस्कार:**– जन्म की ६ठी रात्रि को सूतिकागृह में गृहस्थ गुरु यह संस्कार करते हैं। इसमें रक्षण-देवियों की पूजा की जाती है। बालक की माता तथा अन्य स्त्रियां जागरण करती हैं। प्रातःकाल होने पर बालक पर मंत्रित जल छिटक कर उसे आशीर्वाद दिया जाता है।

(६) **शुचिकरण:**– प्रसव के कारण माता अशुद्ध हो जाती है अतः उस अशुद्धि का निवारण करने के लिए यह संस्कार किया जाता है। अलग २ जातियों में दिनों की मर्यादा अलग २ है। ब्राह्मण १० दिन, क्षत्रिय १२ दिन, वैश्य १६ दिन और शूद्र एक मास के बाद यह संस्कार करते हैं। यह काल पूरा होने पर माता बालक तथा अन्य कुटुम्बी जन स्नान करते हैं और गृहस्थगुरु उन्हें शुद्ध करते हैं।

(७) **नामकरण:**– शुचिकरण संस्कार के दिन अथवा उसके दो तीन दिन बाद नामकरण संस्कार किया जाता है। कुटुम्ब के सब मनुष्य एकत्रित होते हैं, गृहस्थगुरु आते हैं। जन्म कुण्डली के

अनुसार वे बालक के नाम के लिए आद्यअक्षर का सूचन करते हैं और कुटुम्बी जन अपनी रुचि के अनुसार बालक का नाम रखते हैं। धर्म कथाओं में आने वाले नामों के अनुसार नाम रखना अच्छा है जैसे ऋषभदास, अजितप्रसाद, सुदर्शन आदि।

(८) अन्नप्राशन:- पुत्र हो तो उसे छठे मास में और पुत्री हो तो पांचवें मास में कुलदेवी को चढ़ाया हुआ प्रसाद अमुक २ क्रियाएँ करने के पश्चात् खिलाया जाता है। बालक के मुख में प्रथम बार अन्न डाला जाता है। इसे अन्न प्राशन संस्कार करते हैं।

(९) कर्णवेध:- बालक जब तीन, पांच या सात वर्ष का होता है तब गृहस्थगुरु उसका कर्णवेध संस्कार करते हैं। इस संस्कार में कुलदेवियों और रक्षणमाताओं की पूजा की जाती है और मंत्रोच्चारण पूर्वक बालक को जैन धर्म में लेने की क्रिया रूप में उसके कान बींधे जाते हैं।

(१०) चूडाकरण:- इस संस्कार में कुल देवी की पूजा की जाती है। इसके बाद नाई बालक के सिर के बालों को उस्तरे से उतार लेता है, मस्तक के बीच में चोटी रहने देता है। यह चूडाकरण संस्कार कहा जाता है।

(११) उपनयन संस्कार:- जन्म से लेकर विवाह तक के संस्कारों में यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। इसके पहले तक बालक धर्म संस्कार रहित होता है अतः इस संस्कार द्वारा वह धर्म युक्त किया जाता है। इस संस्कार प्रसंग पर बालक गुरु के पास जाता है और उनके चरणों में गिरकर प्रार्थना करता है गुरुदेव ! मैं वर्णरहित, ज्ञान रहित, सम्यक् चारित्र रहित, धर्मरहित और शुद्धि रहित हूं, कृपा कर मुझे देव गुरु और धर्म का स्वरूप सम-

जैनसंघ में श्रावक का स्थान

जैन संस्कृति में संघ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। देवाधिदेव तीर्थङ्कर भी देशना के प्रारम्भ में 'णमो संघस्स' कह कर संघ को नमस्कार करते हैं। इस पर से ही संघ के सर्वोत्कृष्ट महत्त्व का परिचय हो सकता है. जैनागमों में स्थान स्थान पर संघ की महिमा का वर्णन किया गया है। नन्दीसूत्र के प्रारम्भ में विविध उपमानों द्वारा संघ की स्तुति की गई है। व्यक्तिगत साधना एवं तपश्चर्या को छोड़कर भी संघ की रक्षा और अभ्युत्थान करने के दृष्टान्त भी उपलब्ध हैं। भद्रबाहु स्वामी नेपाल में योग-साधना करने चले गये थे परन्तु चतुर्विध संघ की प्रार्थना को महत्व देकर वे पुनः संघ-कार्य में प्रवृत्त हुए। विष्णुकुमार मुनि का उदाहरण प्रसिद्ध ही है। तात्पर्य यह है कि जैन समाज में संघ को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। संघ की प्रभावना, संघ की सेवा और संघ [illegible] [illegible] तीर्थङ्करगोत्र जैसी पुनीत प्रकृति के बन्ध का कारण मानी गई है।

[illegible]

चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर ने धर्म-शासन-संघ की रचना का निर्माण त्यागी और गृहस्थ उपासकों के पारस्परिक स्नेह के दृढ़ आधार पर किया है। इस दूरदर्शिता पूर्ण सुव्यवस्था का ही यह परिणाम है कि अढ़ाई हजार वर्ष जितना लम्बा समय बीतने पर भी उक्त व्यवस्था अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है और दीर्घकाल तक चलती रहेगी।

भगवान् महावीर के शासन संघ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें त्यागीवर्ग की तरह गृहस्थवर्ग को भी मुख्य स्थान दिया गया है। गृहस्थ श्रावकों के लिए भी विधि-विधान, नियमोप नियम और व्यवस्थित मर्यादाओं का निरूपण किया गया है। भगवान् महावीर ने श्रावकों के जीवन-चरित्र की उज्ज्वलता की ओर पूरा २ लक्ष्य रक्खा है। त्यागियों की चर्या को नियमबद्ध बनाने के लिए उन्होंने जितना लक्ष्य दिया है उतना ही लक्ष्य अपने गृहस्थ अनुयायियों के जीवन-शोधन की ओर भी दिया है। उन्होंने अपने चतुर्विध संघ में त्यागियों और गृहस्थों को समान महत्त्व दिया है। समान महत्त्व देने का अर्थ यह नहीं है कि त्यागी और गृहस्थ एक ही कोटि के हैं या उनमें गुरु-शिष्य अथवा पूज्य-पूजक का सम्बन्ध नहीं है। समान महत्त्व का अर्थ इतना ही लेना चाहिए कि ज्ञान दर्शन-चारित्र में साधु वर्ग अधिक आगे बढ़ा हुआ होने पर भी संघ की दृष्टि से श्रावकों का महत्त्व उनसे कम नहीं है। संघ के लिए साधुवर्ग भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना गृहस्थवर्ग उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना श्रमण वर्ग। इसीलिए भगवान् महावीर ने एक ओर श्रावकों के लिए यह विधान किया है कि वे श्रमणवर्ग को अपना गुरु समझकर विनय-भक्ति एवं सेवा शुश्रूषा

दूसरी तरफ भगवान् ने श्रमणवर्ग के लिए यह विधान किया

भ. महावीर के समकालीन गौतम बुद्ध ने अपने गृहस्थ उपासकों की ओर विशेष लक्ष्य नहीं दिया। उन्होंने त्यागियों और गृहस्थ उपासकों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना दृढ नियोजित नहीं किया। इसके कारण कालान्तर में आगे चलकर बौद्ध साधुओं में शिथिलाचार प्रविष्ट हो गया क्योंकि उनके ऊपर किसी दूसरे वर्ग का अंकुश नहीं था। इस शिथिलाचार के कारण धीरे २ बौद्ध धर्म क्षीण होने लगा और भारत में केवल नाम शेष रह गया। इसके विपरीत जैनसंघ में श्रावक और साधुवर्ग में दृढ सम्बन्ध होने के कारण एक का दूसरे पर अंकुश रहता आया है जिसके कारण जैन साधुओं में इतने लम्बे समय में भी शैथिल्य न आने पाया। अतः जैनधर्म आज भी अपने संघ बल के कारण भारत में जीवित है और महत्त्वपूर्ण स्थान पाया हुआ है।

जैन संघ में प्रारम्भ से ही श्रावकों पर साधुओं की देखरेख रही है और साधुओं पर श्रावकों का अंकुश रहा है। श्रावक वर्ग को धर्ममार्ग प्रदर्शित करना, उनके जीवन को धर्ममय बनाये रखना संघ की उन्नति के उपायों को बताना, संघ की रक्षा के लिए योजनाएँ करना, ग्रामानुग्राम विहार करके धर्म ज्योति को प्रज्वलित रखना आदि २ साधुवर्ग के कर्त्तव्य हैं। श्रावक यदि कहीं गलती करता है, धर्म श्रद्धा में अस्थिर होता है या धर्म से उदासीन होता है तो उसे जागृत करना श्रमणवर्ग का कर्त्तव्य है। इसी तरह श्रावक वर्ग के कर्त्तव्यों में साधु वर्ग की संयमोपयोगी आवश्यकताओं को पूर्ण करना, शासन रक्षा के लिए-तीर्थ प्रभावना के लिए द्रव्य-व्यय करना, द्रव्यादि के द्वारा धर्म की प्रभावना करना, साधु साध्वियों के आचार-विचार पर देखरेख रखना आदि २ का समावेश होता है।

श्रावक साधु साध्वियों को गुरु के रूप में पूजनीय मानता है परन्तु वह अन्ध भक्त नहीं होता। वह इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखता है कि मैं जिन्हें गुरु के रूप में मान रहा हूँ उनमें गुरुता के–साधुता के लक्षण हैं या नहीं ? यदि श्रावक संघ-को यह मालूम हो कि अमुक साधु-साध्वी अपने आचार-विचार का अपनी साधु मर्यादा का पालन नहीं करते हैं तो उसे अधिकार है कि वे आचार्य को निवेदन कर उसे श्रमण संघ से बाहर निकाल सकते हैं। अनेक स्थानों पर ऐसी घटनाएँ घटित हुई हैं जिनमें श्रावक संघ ने दोष-पात्र साधु साध्वियों को श्रावक संघ से बाहर निकाला है। श्रावक संघ को यहाँ तक अधिकार है कि यदि कोई अयोग्य व्यक्ति पद पर आगया हो और उसमें संघ संचालन की योग्यता न हो या उसके चारित्र में दोष हो तो वह उसे अलग कर सकता है। इस प्रकार श्रावक संघ का जैनसंघ में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भगवान् महावीर की इस सुदृढ शासन व्यवस्था में भी काल प्रभाव से विकार आगया है। साधुसंघ के साथ २ श्रावक संघ के भी भिन्न भिन्न दल बँध गये हैं ? श्रावक संघ ने अपने कर्त्तव्यों का दृढता के साथ पालन नहीं किया, इसलिए ज्यों ज्यों साधुओं के अलग–अलग दल बनते गए त्यों त्यों श्रावक वर्ग भी उनकी दल बंदियो के साथ बँधता गया। फल यह हुआ कि महावीर का एक अखण्ड शासन–संघ अनेक छोटे छोटे टुकड़ों में विभक्त हो कर क्षीण सा हो रहा है। श्रावकों का कर्त्तव्य तो यह था कि वे होने वाली दल बन्दियों को रोकते किन्तु वे स्वयं पक्षपात में पड़ कर दलों में बंध गये। इसका परिणाम हमारे लिए बहुत अनिष्ट कर हुआ है।

अब श्रावकों और साधुओं का कर्त्तव्य यह है कि वे इन दल बन्दियों को दूर कर दें और एक अखण्ड जिन-शासन के छत्र

के नीचे एकत्रित हो जाय। श्रावकों पर इस बात का अधिक उत्तर दायित्व है। यदि साधुओं को श्रावकों का सहयोग न मिले तो वे कुछ भी नहीं कर सकते हैं। श्रावकों को अपना दायित्व समझना चाहिए। भगवान् महावीर के शासन में उन्हें बहुत बड़ा दायित्व दिया गया है, उनपर बहुत महत्त्वपूर्ण जवाबदारी है अतः इसका निर्वाह करने के लिए उन्हें जागृत हो जाना चाहिए।

जैन शासन की प्रभावना में श्रावकों का योगदान

जैन धर्म के प्रचार, प्रसार और प्रभावना में जैनाचार्यों की तरह जैन श्रावकों का भी उल्लेखनीय योग रहा है। जैन मुनियों की आचार-मर्यादा के नियमोपनियम इस प्रकार के हैं कि वे गृहस्थ उपासकों के सहयोग के बिना प्रचार और प्रभावना के क्षेत्र में विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते। प्राचीन और मध्यकालीन जैनाचार्यों ने शासन की प्रभावना के लिए जो जो कार्य किये हैं उन सब में गृहस्थ श्रावकों का पूरा २ सहयोग रहा है।

"अपनी आचार मर्यादा से बँधे हुए होने के कारण जैन मुनि खुले रूप में प्रचार के उन साधनों का प्रयोग या उपयोग नहीं करते जो आम तौर पर अन्य धर्म के धर्मगुरू किया करते हैं। जैनाचार्यों ने अपनी तपश्चर्या, त्याग, प्रतिभा, आध्यात्मिक उत्कर्ष, बुद्धि वैभव और चरित्र-बल के द्वारा जनता को प्रभावित कर अपने धर्म-शासन का प्रचार किया। जैनों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए कभी जोर-जुल्म का अन्य अवैध साधनों का उपयोग नहीं किया। जैन धर्म जब राजधर्म रहा तब भी उसने अपने अनुयायियों

की संख्या बढ़ाने के लिए शक्ति का आश्रय नहीं लिया। उसने किसी को उसकी इच्छा के विरूद्ध धर्म परिवर्तन करने के लिए मजबूर नहीं किया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि शैवों ने, लिंगायतों ने, मुसलमानों ने, ईसाइयों ने अपने मजहब का प्रचार करने के लिए अनैतिक साधनों का और शक्ति का प्रयोग किया है। दक्षिण भारत में शैवों और लिंगायतों ने जैनियों पर बहुत अत्याचार किये हैं। परन्तु जैन धर्म ने जब वह प्रबल रूप में राज्यधर्म रहा तब भी किसी प्रकार के नीति विरूद्ध उपायों का अवलम्बन नहीं लिया। जैन धर्म शक्ति के बल पर नहीं फैला अपितु वह उसके आचार्यों की त्यागवृत्ति, आध्यात्मिक उत्कर्ष और चारित्र की उत्कृष्टता के आधार पर फूला-फला है। समय २ पर ऐसे प्रभावशाली एवं प्रतिभा सम्पन्न आचार्य और प्रभावक श्रावक हुए हैं जिन्होंने जैन धर्म की उज्ज्वल कीर्ति का विस्तार किया है।

जैनाचार्यों ने अपने प्रभाव से अनेक राजा, महाराज, महामात्य, मन्त्री, सेनापति, और सेठ-साहूकारों को प्रभावित किया है एवं उन्होंने अपनी शक्ति और सम्पत्ति के द्वारा जैन शासन की प्रभावना करने वाले कार्य किये हैं। भगवान् महावीर के उपदेशों से तत्कालीन अनेक नरेशों ने जैन धर्म स्वीकार किया और उसकी प्रभावना में योग दिया। आर्य सुहस्ति के प्रभाव से सम्राट् सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार और अभ्युदय के लिए भरसक प्रयत्न किया। आचार्य जिनसेन के प्रभाव से प्रभावित सम्राट् अमोघवर्ष ने जैन धर्म की प्रभावना के लिए पूर्ण प्रयास किये। सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य के प्रभाव से प्रभावित मन्त्री और वीर सेनापति चामुण्डराय ने धर्मप्रभावना के अनेक कार्य किये। आचार्य हेमचन्द्र के प्रभाव से प्रभावित परमर्हत गुर्जरेश्वर कुमारपाल ने अपने राज्य को आदर्श जैन राज्य बनाया।

इस तरह होने वाली जैन धर्म की प्रभावना में जैनाचार्यों के साथ ही साथ जैन गृहस्थों का भी हाथ रहा ही है।

कालिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन सम्राट् खारवेल ने जैन-धर्म के प्रसार के लिए अनेक प्रयास किये, यह अभी प्राप्त हुए उड़ीसा प्रान्त के खण्डगिरी पर्वत की हाथी-गुफा वाले शिलालेख से स्पष्ट प्रकट होता है।

प्रदेशी जैसे महा नास्तिक, अधर्म परायण, क्रूर और धर्म-द्वेषी राजा को समझाने का श्रेय केशी स्वामी को है परन्तु इस कार्य में सुश्रावक चित्त की सहायता किसी तरह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। चित्त श्रावक की सहायता के बिना प्रदेशी को प्रबोध देना अत्यन्त दुष्कर था क्योंकि वह मुनियों के सम्पर्क में नहीं आता था। चित्त श्रावक की बुद्धि का ही यह परिणाम है कि वह केशी स्वामी के पास आया और केशी स्वामी उसे समझा सकने में समर्थ हो सके। प्रदेशी के प्रबुद्ध होने से बहुत सा अधर्म टल गया और धर्म की प्रभावना हुई। इसका श्रेय चित्त श्रावक को भी किसी तरह कम नहीं है।

जैन गृहस्थों ने धर्म की प्रभावना के लिए, सस्कृति की रक्षा के लिए और साहित्य की सुरक्षा एवं प्रचार के लिए अपनी अपार-द्रव्यराशि का सदुपयोग किया।

साहित्य की रक्षा के लिए जैन श्रावकों ने बहुत प्रयत्न किये हैं। विद्वान् जैनाचार्यों ने अपनी बुद्धि प्रतिभा से सर्वतोमुखी साहित्य की रचना की। वह साहित्य हमें और संसार को आज भी उपलब्ध है इसका श्रेय जैन गृहस्थों को ही है। प्राचीन काल में मुद्रण [illegible] नहीं, ऐसा होते हुए भी जैन ग्रन्थों [illegible]

हजारों प्रतियां भिन्न २ भण्डारों में उपलब्ध है इसका जैन गृहस्थों की उदारता ही है।

जैन गृहस्थों ने विद्वान् मुनियों के ग्रन्थों की हजारों प्रति-लिपियाँ करवाई। इस कार्य में जैनों ने उदारता पूर्वक द्रव्य का सदुपयोग किया। मुसलमानी आक्रमणों के समय साहित्य की सुरक्षा के लिए जैनों गृहस्थों ने भरसक प्रयत्न किये। इन्हों ने अनेक गुप्त भण्डार स्थापित किये। वहुमूल्य साहित्यनिधि की रक्षा के क लिए जैनों ने जो प्रयत्न किये इसके लिए समग्र भारतीय साहित्य जंनों का ऋणी है जैनों ने न केवल अपने ही अपितु बौद्ध और वैदिक आचार्यो की कृतियों को भी अपने भण्डारों में सुरक्षित रखा। लेखन कला और चित्रकला को प्रोत्साहन भी उदार जैन-गृहस्थों द्वारा प्राप्त हुआ है। इस प्रकार जैनाचार्यो की और अन्य भारतीय विद्वानों को साहित्यिक कृतियों का प्रचार और संरक्षण में जैह गृहस्थ श्रावकों का प्रधान हाथ रहा है। साहित्य और कला के द्वारा धर्म और संस्कृति पल्लवित होती है। जैन साहित्य और जैन कला के विकास के द्वारा जैन धर्म की वहुत प्रभावना हुई है और इसमें जैन गृहस्थों का मुख्य सहयोग रहा है।

संघ के सामाजिक स्वरूप को वनाये रखने के लिए समय २ पर अनेक बाह्य आयोजन करना आवश्यक हो जाता है। निश्चयतः धर्म यद्यपि आत्मा की वस्तु है तदपि व्यवहारतः उसकी चिरस्थिति उसके वाह्य स्वरूप पर भी आश्रित है। धर्म और समाज का गाढ सम्बन्ध है अतः धर्म सामाजिक स्वरूप धारण कर लेता है। समाज क विना धर्म की स्थिति सुदृढ नहीं हो सकतो। जैसाकि कहा है—"न धर्मो धार्मिकैर्विना"। अतः समाज की दृष्टि से भो धार्मिक आयोजन आवश्यक हो जाते हैं। हां, यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि ऐसे आयोजन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

को परख कर किये जाने चाहिए। ऐसे आयोजनों का मूल आशय धर्म की प्रभावना और धार्मिकों का संगठन होता है। जब ऐसे आयोजनों का यह आशय लुप्त हो जाता है और केवल रूढ़ि या आडम्बर शेष रह जाते हैं तब ये भारभूत हो जाते हैं। अन्यथा विवेक पूर्वक किये जाने वाले धार्मिक उत्सव तथा अन्य आयोजनों का सामाजिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। ऐसे आयोजनों में जैन गृहस्थों ने अपने विपुल द्रव्य का उपयोग किया है। जैन शासन संघ की उन्नति और प्रभावना में इनका बड़ा महत्त्व है।

तात्पर्य यह है कि जैनाचार्यों ने अपने चरित्र और ज्ञान-बल के द्वारा जैन संघ की प्रभावना की है और जैन श्रावकों ने आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त कर अपने धन बल और विशाल उदार वृत्ति के द्वारा जैन शासन की प्रभावना की है। जैन शासन की प्रभावना में श्रावकों का योगदान ऐसा-वैसा नहीं अपितु असाधारण और महत्त्वपूर्ण है।

उभर आया

जब-जब जग पर कोई,
काला बादल मण्डराया।
जब-जब जग में हिंसा ने,
अपना ताण्डव फैलाया॥
तब-तब जग को हर्षा ने,
दुःखियों के दुःख दूर हटाने
मानव बीच 'उदय' कोई,
'महावीर' उभर आया ॥१॥

भारतीय इतिहास और जैन श्रावक

भारतीय इतिहास में जैन गृहस्थों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इतिहास काल के प्रारम्भ से ही भारत के विभिन्न भागों में अनेक जैन नृपति और मंत्री, सेनाध्यक्ष और कोषाध्यक्ष एवं अन्य राज्य से सम्बन्धित अधिकारी हुए हैं पौराणिक माने जाने वाले काल को छोड़कर देखें तो पिछले अढाई हजार वर्षों में भारतीय राजनीति और इतिहास के साथ जैनों का गहरा सम्बन्ध रहा है।

भगवान् महावीर के समय में नौमल्ली और नौ लिच्छवी राजाओं का गणराज्य था और उसकी राजधानी वैशाली में थी। उस गणराज्य के प्रमुख- नायक चेटक थे जो भगवान् महावीर के व्रतधारी श्रावक थे। भगवती सूत्र में इसका वर्णन किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि गणतन्त्र या प्रजातन्त्र प्रणाली की शासन-पद्धति आधुनिक यूरोप की उपज नहीं है किन्तु इस प्रणाली का प्रचलन भारत में हजारों वर्ष पहले से था। चेटक की पुत्रियों का सम्बन्ध कौशाम्बी के राजा शतानिक, मगधनरेश श्रेणिक, वीतमयपट्टन के नरेश उदायन, उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत के साथ हुआ था। ये सब नरेश भगवान् महावीर के उपासक थे।

श्रेणिक का पुत्र कोणिक और तत्पुत्र उदयन भी जैन नृपति थे। शिशुनाग वंश के राजाओं के पश्चात् मगध में नन्द वंश का शासन रहा। नन्द वंश के नरेश भी जैन थे। इसके पश्चात् नन्द-

शताब्दी से लेकर ११वीं शताब्दी तक जैन राजाओं का राज्य रहा। गंग और राष्ट्रकूट राजवंशों ने शताब्दियों तक दक्षिण भारत में शासन किया। राजा राजमल्ल चतुर्थ के प्रतापी अमात्य वीर-मार्तण्ड चामुण्डराय ने जैन धर्म के गौरव की पर्याप्त वृद्धि की। राजा अमोघ वर्ष प्रथम (ई सं. ८१५-८७७) बड़े प्रतापी जैन नरेश हुए। गुजरात में वनराज चावड़ा शीलगुण सूरि की सहायता से राज्य संस्थापक हुआ। इसके पश्चात् चौलुक्य (सोलंकी) वंश के नरेशों के प्रधान अमात्य और सेनापति जैन श्रावक हुए। भीम राजा के मंत्री विमल थे। जिन्होंने आबू पर 'विमल वसहि' नाम से भव्य कलापूर्ण विश्व प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। इस वंश के प्रतापी राजा कुमारपाल तो परमार्हत थे। उन्होंने अपने गुरु श्री हेमचन्द्राचार्य के उपदेश से अपने राज्य भर में अमारि घोषणा करवाई थी। पशुहिंसा, मांसाहार, मद्यपान, जुआ आदि का राज्य भर से निष्काशन कर दिया था। कुमारपाल का राज्य आदर्श जैन राज्य था।

चौलुक्य वंश के बाद गुजरात में बाघेला वंश का राज्य स्थापित हुआ। इस वंश के राजा वीरधवल के अमात्य वस्तुपाल और तेजपाल थे। इन्होंने जैन धर्म की बहुत प्रभावना की। इन युगल बन्धुओं ने जैन धर्म का प्रभाव बढ़ाने के लिए जितना द्रव्य व्यय किया था उतना अन्य किसी ने किया हो, ऐसा इतिहास से नहीं विदित होता। ये दोनों कुशल महामात्य तो थे ही, साथ ही महायोद्धा और महा दानी भी थे। वस्तुपाल की विशेषता यह थी कि वह उच्चकोटि का कवि एवं विद्वान् था। उसने संस्कृत काव्यों की भी रचना की थी। वह स्वयं विद्वान् और कवि होने के साथ २ विद्वानों का आश्रयदाता था। विद्वानों के लिए वह कल्पवृक्ष था। इस तरह उसमें महालक्ष्मी और सरस्वती का विचित्र सामञ्जस्य

था। तेरहवीं सदी के अन्त में और चौदहवीं सदी के पूर्व में गुजरात में जो संस्कृत साहित्य श्री की समृद्धि हुई उसका श्रेय वस्तुपाल और उसके विद्यामण्डल को ही है। एक ही व्यक्ति में विद्वत्ता, धनाढयता, शूरवीरता और दानवीरता का इस कोटि का सामञ्जस्य पाया जाना सचमुच आश्चर्य का कारण है। इनके सम्बन्ध में मुनि श्री जिनविजय ने लिखा है :—

"महामात्य वस्तुपाल-तेजपाल-इन गुजरात के दो वणिग् बन्धुओं ने अपने सद्गुण और सुकृत्यों से जो कीर्ति प्राप्त की वैसी कीर्ति प्राप्त करने वाले पुरुष भारत के ऐतिहासिक मध्यकाल में बहुत थोड़े हुए हैं।

ये दोनों भाई जन्म से थे तो पुनर्विवाहित माता के पुत्र परन्तु गौरव और सन्मान की दृष्टि से आदर्श कुल पुंगवों के द्वारा भी वन्दनीय हुए; जाति से थे तो वैश्य, परन्तु शौर्य और औदार्य गुण के कारण महाक्षत्रियों से भी बढ़कर थे; पद से थे तो महामात्य परन्तु सत्ता और सामर्थ्य के द्वारा बड़े २ सम्राटों से भी बढ़कर थे; धर्म से थे तो जैन परन्तु सहिष्णुता और समदर्शिता के कारण लोकमान्य महात्माओं से भी स्तुति किये जाने योग्य हुए; ....।"

"हिन्दु संस्कृति के असामान्य संरक्षक होकर भी मुसलमानों के धर्माचरण के लिए मस्जिदें बना देने वाले, जैन धर्म, के उपासक होकर भी सैकड़ों शिवालय और संयासी मठों का ति[illegible] कर देने वाले, अहिंसा परमो धर्मः' का दृढ़ श्रद्धालु होकर भी [illegible] द्रोहियों और धर्म द्वेषियों का समूल उच्छेद करा देने वाले, [illegible] [illegible] जैसे स्वामी बनकर भी दासी को तर[illegible]

तुच्छ समझने वाले, राजा-महाराजाओं के नमस्कार झेलने वाले होकर भी गुणवान् दरिद्रों की चरण पूजा करने वाले, कुटिल राजनीति के सूत्रधार होकर भी कविता और कला की सरिता में निरन्तर क्रीड़ा करने वाले, विदेशी और विपक्षीजनों की लक्ष्मी को ले लेने वाले होकर भी अनर्थियों के लिए धन की नदियां बहा देने वाले, इन गुर्जर बन्धुओं की जोड़ी के पुरुष सारे भारत के मध्यकालिन इतिहास में ढूंढने से भी नहीं मिलते हैं।"

"पूर्वकालीन जैन जितने धर्मप्रिय थे उतने ही राष्ट्र भक्त थे और जितने राष्ट्र भक्त थे उतने ही प्रजावत्सल भी थे। उनकी लक्ष्मी का लाभ धर्म, राष्ट्र और प्रजागण समान रूप से लेते थे। वे साधर्मिक वात्सल्य भी करते थे और प्रजासंघ को भी प्रीति-भोज देते थे। वे जैन मन्दिर भी बंधवाते थे और सार्वजनिक स्थान भी बनवाते थे। वे जैन मुनियों को जिस भावना से सम्मानित करते थे उसी भावना से ब्राह्मण विद्वानों का भी आदर करते थे। शत्रुंजय और गिरनार की यात्राओं के साथ वे लोग सोमनाथ की यात्रा भी करते थे और द्वारिका भी जाते थे। वस्तुपाल-तेजपाल आदर्श जैन थे। उन्होंने जैन धर्म का प्रभाव बढ़ाने के लिए जितना द्रव्य व्यय किया उतना अन्य किसी ने किया हो ऐसा इतिहास में नहीं मिलता। मध्य युग के इतिहास काल में जितने भी समर्थ जैन श्रावक हो गये हैं उन सब में वस्तुपाल सबसे महान् था और जैन धर्म का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि था। एक साधारण जैन यति का अप-मान करने के कारण उसने गुर्जरेश्वर महाराज वीसलदेव के मामा का हाथ कटवा दिया था। उसका स्वधर्माभिमान इतना अधिक उग्र था। इतना होते हुए भी उसने जैन धर्म स्थानों के अलावा लाखों रुपये जैनेतर धर्म स्थानों के लिए भी खर्च किये थे। ......"

उसने हजारों रूपये खर्च करके गुजरात की शिल्पकला के सुन्दरतम नमूने के रूप में एक उत्कृष्ट खुदाई के काम का आरस पत्थर का तोरण बनवाकर इस्लाम के पाकधाम मक्का शरीफ को अर्पण किया था। अपने धर्म में अत्यन्त चुस्त होते हुए भी अन्य धर्म के प्रति ऐसी उदारता बताने वाला और अन्य धर्म स्थानों के लिए इस ढंग से लक्ष्मी का उपयोग करने वाला उसके समान अन्य कोई पुरुष, भारत वर्ष के इतिहास में मुझे तो दृष्टिगोचर नही होता"।

उक्त वर्णन से वस्तुपाल-तेजपाल का संक्षिप्त परिचय मिल जाता है। राजनीतिक, धार्मिक साहित्यिक और सार्वजनिक क्षेत्र में इन जैन बन्धुओं की देन अनुपम है।

जगडुशाह:— गुर्जरेश्वर वीसलदेव के राज्यकाल में संवत् १३१२ से १३१५ के बीच भयंकर दुष्काल पड़ा। अन्न के अभाव में सर्वत्र त्राहि २ मच गई। केवल गुजरात में ही नहीं किन्तु भारत के विविध प्रान्तों में इस दुर्भिक्ष का पंजा फैला हुआ था इस दुर्भिक्ष को समग्र देशव्यापी कहा जा सकता था। खाद्य समस्या अत्यन्त भयंकर रूप धारण कर चुकी थी। सारे देश के सामने भयंकर सकट उपस्थित था। ऐसे समय में कच्छ के भद्रेश्वर नगर निवासी श्रीमाल गोत्रीय, जैन श्रावक जगडुशाह ने जिस उदारता का परिचय दिया वह इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरो में अंकित है। इस राष्ट्रीय संकट के समय में उन्होंने विपुल अन्न भण्डार देश की जनता के लिए खोल दिये। संयोगवश इस जैन गृहस्थ के पास धान्य का विपुल संग्रह था। राष्ट्र के इस संकटकाल में यदि वह चाहता तो उससे अपार द्रव्य राशि कमा सकता था परन्तु उसने ऐसा न करते हुए अपने अन्न के भण्डारों को आम जनता के

खोल दिया। उसने जगह २ दान शालाऐं स्थापित कीं। भारत के दुष्कालग्रस्त प्रान्तों को अन्न प्रदान किया। इस तरह उसने तत्कालीन दुष्कालग्रस्त जनता को भूख से उबार लिया। उसके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए लोगों ने उसे 'जगत् पालक' की उपाधि प्रदान की।

जगड़ूशाह प्रसिद्ध व्यापारी था। उसका व्यापार आर्द्रपुर (एडन) तक होता था। वह बड़ा धार्मिक, अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति सहनशील, तथा सुधारक था उसकी दानवीरता सर्वत्र विश्रुत थी। जगडुशाह की कीर्ति के साथ जैन गृहस्थों की दान-वीरता की गाथा भी युग २ तक अमर रहेगी।

खेमा देदा राणी:- महम्मद बेगड़ा के समय में (सं. १५०२ से १५६८) हडाला ग्राम के निवासी खेमा देदराणी नामक जैन गृहस्थ ने दुष्काल के समय समग्र गुजरात को धान्य वितरित किया। इसके लिए यह कथा प्रसिद्ध है कि किसी भाट ने बातचीत के प्रसंग में यह कहा कि "प्रथम वाणियो शाह बाद बादशाह"। इस पर महम्मद बेगड़ा ने कहा कि यह तुम्हारी बात तब स्वीकार की जा सकती है जब वणिक शाह गुजरात के इस दुष्काल को सुभिक्ष में परिवर्तित कर दें। भाट ने प्रसिद्ध २ वणिक्जनों को अपनी टेक और मर्यादा का निर्वाह करने के लिए प्रेरणा की। महाजनों ने स्थान २ से द्रव्य एकत्रित कर अपनी मर्यादा निभाने का निश्चय किया वे द्रव्य एकत्रित करने के लिए निकल पड़े। मार्ग में एक छोटा ग्राम 'हडाला' आया। वहां खेमा नामक शाह रहता था। उसने महाजनों को आग्रह करके अपने यहां ठहराया। उनका प्रीतिपूर्वक आतिथ्य किया और यात्रा का प्रयोजन पूछा। महाजनों ने सहज उपेक्षा भाव से सारी बात कहीं क्योंकि खेमा के ग्रामीण

रहन-सहन से वे समझते थे कि वह साधारण स्वधर्मी भाई होगा। उनके मुख से यह बात सुनकर खेमा ने कहा- आप आगे न बढ़िये। मैं अकेला ही बादशाह की चुनौती का उत्तर दे सकता हूं। उसने अपना सोने चांदी का ढेर उन्हें बताया। उसे देखकर महाजन चकित रह गए। खेमाशाह अपना द्रव्य लादकर महाजन संघ के साथ महम्मद बेगडा के पास पहुंचा। उसने वह विपुल द्रव्य राशि उसे प्रदान की और उससे धान्य खरीद कर गुजरात का दुष्काल सुभिक्ष में परिणत कर दिया गया। धन्य है खेमाशाह की भव्य दान वीरता !

[illegible]ाशाह.– महम्मद बेगड़ी के मंत्री गदाशाह दृढ धर्मिष्ठ जैन [illegible]ावक थे। वे अपने धार्मिक कृत्यों का और नियमों का यथाविधि [illegible]लन करते थे और साथ ही राष्ट्र के कार्यों के लिए शूरवीरता [illegible]ाने में भी कभी पीछे नहीं रहते थे। एक तरफ सूक्ष्म से सूक्ष्म [illegible]न्तु की अहिंसा का यत्न और दूसरी ओर रणसंग्राम में शत्रु पक्ष [illegible]ा संहार करने में कुशलता देखकर बादशाह को बड़ा आश्चर्य [illegible]ता था। उसने मंत्री से कहा-"इन दोनों विरोधी बातों का मेल [illegible]से हो सकता है ? क्या इसे दम्भ नहीं समझना चाहिए ?"

[illegible]दाशाह ने कहा– एक जैन श्रावक के रूप में मैं निष्प्रयोजन छोटे छोटे जीव की रक्षा का प्रयत्न करता हूं किन्तु जब देश और [illegible]तृभूमि के प्रति, स्वामी और राज्य के प्रति कर्त्तव्य पालन का [illegible]संग आता है तब जैन श्रावक उससे विमुख नहीं हो सकता। [illegible]पने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को निभाने के लिए जो युद्ध [illegible]ादि किये जाते हैं उनसे कर्म-बन्ध अवश्य होता है किन्तु कलुषित [illegible]त्ति न होने के कारण चिकने कर्मों का बन्धन नहीं होता है। [illegible]न श्रावक-धर्म आध्यात्मिक श्रेय को अग्रस्थान देता हुआ भी [illegible]ाष्ट्र के प्रति या समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य अदा करने में [illegible]दापि बाधक नहीं होता है।

महम्मद वेगड़ा अपने मंत्री की इस बात से बहुत प्रसन्न और प्रभावित हुआ। उसने कहा— गदाशाह! जब तक तुम्हारे जैसे देशभक्त मौजूद हैं तब तक यह देश और यह भूमि सदा विजयशील रहेगी।

राजस्थान के इतिहास में तो जैन श्रावक राज्याधिकारियों का ही प्रभुत्व रहा है। राजस्थान के राजाओं का इतिहास एक रूप में जैन राज्याधिकारी श्रावकों की उज्जवल कीर्ति का इतिहास ही है। जयपुर, उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि राजस्थानी राज्यों के मुख्य २ सचिव, सेनापति और कोषाध्यक्ष अनेक परम्पराओं तक जैन श्रावक ही रहे हैं। राजस्थान के इतिहास में जैन वीरों का बुद्धि कौशल राज्य शासन व्यवस्था में अनुपम नैपुण्य और रणसंग्राम में अप्रतिम शौर्य पद-पद पर अंकित है। जैन वीरों की स्वामि भक्ति और राष्ट्रीयता ने राजस्थान के गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखा है।

भामाशाहः— विश्व विख्यात महाराणा प्रताप और दानवीर भामाशाह के नाम से कौन अभागा अपरिचित होगा? भामाशाह ने अपनी समस्त सम्पत्ति महाराणा प्रताप के चरणों में ऐसे विकट प्रसंग में समर्पित की जब वे निराश होकर मेवाड़ की प्यारी मातृभूमि को छोड़ने के लिए तैयार हो गये थे। यदि भामाशाह की उदार सहायता महाराणा प्रताप को न मिली होती तो वे मेवाड़ की वीर भूमि को त्याग कर चल देते। ऐसी अवस्था में वीर भूमि मेवाड़ को वह गौरव नहीं प्राप्त होता तो आज उसे मिला हुआ है। स्वतन्त्रता के अमर पुजारी राणाप्रताप ने मुगलों की अधीनता कभी स्वीकार नहीं की। वे वन-वन में भटकते फिरे। राजसी सुखों को छोड़कर घास की रोटियां खाने की परिस्थिति में भी

वे विचलीत न हुए। फिर भी इनकी विपत्तियों का अन्त न आया। एक दिन इस वीर-शिरोमणि के पत्थर-हृदय में भी निराशाने घर कर लिया। उन्होंने मेवाड़ छोड़ देने का निश्चय किया। जब यह समाचार भामाशाह को मिले तो वे अपना सारा धन गाडियों में भरवा कर महाराणा से मिलने के लिए गये। महाराणा के चरणों में वह अपरिमित धनराशि समर्पित करते हुए वे बोले– महाराणा जी! यह आपको ही दी हुई सम्पत्ति है। इसे स्वीकार कीजिए और अपनी प्यारी मातृभूमि के गौरव की रक्षा करिये। महाराणा गद्गद हो गये। भामाशाह की देशभक्ति, उदारता और तेजस्वी वाणी ने राणाप्रताप के क्षात्र तेज को पुनः प्रज्वलित कर दिया। उन्होंने हारे हुए मेवाड़ के उद्धार का दृढ़ संकल्प कर लिया। उन्होंने उस धन के द्वारा पुनः सैन्य का संगठन किया और मेवाड़ को स्वतन्त्र बनाया। भामाशाह के द्वारा दिया गया वह धन इतना अधिक था कि उसके द्वारा बारह वर्ष तक पच्चीस हजार सैनिकों का निर्वाह हो सकता था। राणाप्रताप की शूरवीरता और भामाशाह की दान वीरता ने मेवाड़ के मस्तक को ऊंचा उठाया है। टॉड साहब ने भामाशाह के लिए मेवाड़ रक्षक (Saviour Mewar) शब्द का प्रयोग किया है। आज तक भामाशाह के वंशजों को मेवाड़ में बड़ा सन्मान प्राप्त है।

सचमुच दानवीर भामाशाह ने राष्ट्र के संकट के समय अपनी विशाल सम्पत्ति राष्ट्र के चरणों में अर्पित कर जैन श्रावक के सच्चे कर्त्तव्य का पालन किया है। उन्होंने अपने देश के गौरव के साथ ही साथ जैन धर्म के गौरव को बढ़ाया है।

आशाशाह:– जैन श्रावकों की स्वामि भक्ति और देश प्रेम का उदाहरण कमलमेर दुर्ग के अधिपति आशाशाह का है। मेवाड़ के

को उसकी माता पास के कमरे से यह सब सुन रही थी। वह शीघ्र बाहर आकर बोली पुत्र ! तेरी नसों में दिप्त कुल का रक्त बह रहा है। तू जिस कूंख से पैदा हुआ है उसको इज्जत रखना तेरा कर्तव्य है। शरणागत की रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है फिर तो मेवाड़ के महाराणा तो हमारे स्वामी हैं। अपना सर्वस्व लुट जाने पर भी इसका संरक्षण करना तेरा कर्त्तव्य है। माता की ओजस्वी वाणी ने आशाशाह को कर्त्तव्य प्रेरणा प्रदान की मेवाड़ के बालक राणा उदयसिंह उसके यहां बड़े होने लगे। योग्य अवसर पर आशाशाह की सहायता से महाराणा उदयसिंह चित्तोड़ के सिंहासन पर आरूढ हो सके धन्य है इस वीराङ्गना आशाशाह की माता को। औधन्य है जैनकुल दीपक आशाशाह को वास्तव में मेवाड़ के गौरवमय इतिहास में जैनधर्मी श्रावकों का योगदान असाधारण है।

जैन वीरों ने केवल बुद्धि या कलम के बल से ही मेवाड़ के गौरव को नहीं बढाया किन्तु तलवार लेकर रणमैदान में भी उन्होंने अपने जोहर बताये हैं। महाराणा राजसिंह के मंत्री और सेनाध्यक्ष संघवी दयालदास ने अनेक लड़ाइयों में विजय प्राप्त की और मेवाड़ के मस्तक को उन्नत रक्खा। संघवी दयालदास के शौर्य, रण चातुर्य और साथ ही बुद्धि वैभव की इतिहासकारों ने बहुत प्रशंसा की है।

महाराणा हम्मीर को चित्तौड़ का राज्य प्राप्त करने में जालसी महता ने बहुत सहायता की। ये बड़े बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ थे महाराणा अरिसिहजी के समय महता अगर चंदजी बड़े प्रतिभाशाली शासक और योद्धा हुए। महाराणा का आपके [illegible] विश्व। था। सिन्धिया की सेना के स [illegible] न धम [illegible] आया। विजयी रहे। ये आजीवन [illegible] लडते

के रूप में मेवाड़ के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। इसी तरह मेहता मालदास, मेहता देवीचन्द मेहता राजसिंह, कोठारी परिवार के दीवान मेवाड़ के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

जोधपुर रियासत के अन्दर जैन श्रावकों का इस राज्य की स्थापना काल से लेकर आजतक राजनैतिक प्राधान्य रहा है। साढ़े चारसों वर्षों में लगभग १०० दीवान ओसवाल जैन हुए। यहाँ के सेनाध्यक्ष भी ओसवाल जैन श्रावक रहे। मुहणोत नैणसी, भण्डारी रवी वसी, भण्डारी रघुनाथ, भण्डारी गंगाराम, सिंघवी जेठमल, सिंघवी इन्द्रराज, सिंघवी धनराज, सिंघवी फतेराज आदि जैन श्रावकों ने जोधपुर के राजनैतिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है।

इसी तरह बीकानेर राज्य की स्थापना में बच्छावत वंश ने अत्यधिक सहयोग दिया था। यह बच्छावत वंश वैद और सुराणा परिवार बीकानेर के प्रधान पद पर शताब्दियों तक कार्य करता रहा। कर्मचन्द्र बच्छावत महान् राजनीतिज्ञ, शासनकुशल, धर्मात्मा और वीर थे। इनका दिल्ली के तत्कालीन प्रतापी सम्राट अकबर पर भी खूब प्रभाव था। आपने सम्राट अकबर को जैन धर्म के महान् सिद्धान्तों का परिचय करवाया तथा सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री जिनचन्द्र सूरि से सम्राट की भेंट करवाई। राजनैतिक, सैनिक और धार्मिक दृष्टि से कर्मचन्द्र बच्छावत का अपना विशेष स्थान है अमरचन्द सुराणा आदिभी बीकानेर के राजनैतिक इतिहास के प्रसिद्ध पुरुष हैं।

इन्दौर, झाबुआ, प्रतापगढ़, झालावाड़, बांसवाड़ा, किशनगढ़, सिरोही काश्मीर आदि रियासतों में जैन श्रावकों ने प्रधान

(दिवान) पद पर सफलता पूर्वक कार्य किया है। मालवा, मेवाड़, मारवाड़ आदि राजस्थान का इतिहास तो जैनों की दीर्घदृष्टि, शूरवीरता और बुद्धि कौशल के द्वारा गौरवान्वित रहा है।

अनेक शताब्दियों तक मगध साम्राज्य और इसके बाद अनेक शताब्दियों तक राजस्थान भारतीय राजनीतिक इतिहास का मुख्य केन्द्र रहा है। यहाँ जैन श्रावकों का प्राबल्य रहा है अतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास के भव्य निर्माण में जैन श्रावकों का सहयोग जैसा-तैसा नहीं अपितु महत्त्वपूर्ण रहा है। जैनों ने अपनी शूरवीरता और दीर्घदृष्टि से भारतीय इतिहास को गौरवान्वित किया है।

卐ॐ卐

भगवत् भक्ति

भगवान की भक्ति में अपना मन रमाओ,
छोड़ तेरा मेरा निश दिन प्रभु गुण गाओ।
मिला है अमोल यह भव व्यर्थ न चला जाये,
तार आत्मा को 'उदय' ब्रह्मलीन हो जाओ॥

महानता का मापदण्ड

महान् है वह जो त्याग संसार संयम धारे,
महान् है वह जो मन के विषय विकार मारे।
बन जाओ दुनियां की नजरों में बड़े उदय।
महान् तो वे है जो स्वदोष देख आत्मा को तारे॥

जैन और वैदिक गृहस्थ

जैन और वैदिक संस्कृति भारत भूमि के आँगन में हजारों वर्षों से साथ साथ पल्लवित होती आई हैं। अतः दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव होना स्वाभाविक है। दोनों संस्कृतियों में मौलिक भेद होने पर भी जैनों और वैदिक गृहस्थों के सामाजिक और व्यावहारिक जीवन में बहुत कुछ साम्य दिखाई देता है। सामाजिक और लौकिक रीतिरिवाज दोनों के लगभग समान ही हैं। धार्मिक सिद्धान्तों और विधिविधानों में पर्याप्त अन्तर के रहते हुए भी दोनों संस्कृतियों के अनुयायियों का पारस्परिक गाढ सम्पर्क रहने के कारण व्यावहारिक जीवन में इतनी अधिक समानता आ गई है कि किसी दूसरे व्यक्ति को सहसा जैन और वैदिक गृहस्थ की भिन्नता का ज्ञान नहीं हो सकता है।

वर्त्तमान समय में प्रचलित 'हिन्दू धर्म' और 'हिन्दू समाज' शब्द से तो वैदिकों की तरह जैनों का भी ग्रहण हो जाता है। 'हिन्दू' शब्द की व्यापक परिभाषा है। यह शब्द 'भारतीयता' का सूचक है, किसी विशेष सम्प्रदाय या समाज का नहीं। इस दृष्टि से जैन भी हिन्दू हैं, जैन समाज भी हिन्दू समाज का अंग है। परन्तु जब 'हिन्दू' की परिभाषा 'केवल वैदिक परम्परा को मानने वाला' की जाती है तब स्पष्टतया जैन उससे अलग हो जाते हैं क्योंकि जैन वैदिक परम्परा को मानने वाले नहीं हैं किन्तु अपनी स्वतन्त्र परम्परा रखते हैं। अभि प्रायः इतना ही है कि सामाजिक और व्यावहारिक (लौकिक) जीवन में जैन और वैदिक गृहस्थ में बहुत कुछ समानता है। जन्म, विवाह आदि लौकिक संस्कार जैनों और वैदिक गृहस्थों के मिलते-जुलते ही हैं। व्यवसाय की दृष्टि से भी

जैन और वैदिक गृहस्थ में बहुत साम्य है। जैन श्रावक के लिए जैनधर्म में जो व्यवसाय निषिद्ध किये गये हैं वे ही व्यवसाय प्रायः वैदिक गृहस्थ के लिए भी निषिद्ध हैं। मनुस्मृति में लिखा है कि—

सर्वान्रसानपो हेतु कृतान्नं च तिलैः सह।
अश्मनो लवणं चैव पशवो मे च मानुषाः॥
सर्वं च तान्तवं रक्तं शण क्षौमा विकानि च।
अपि चेत् स्युररक्तानि फल मूले तथौषधि॥
अयः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धाश्वसर्वशः।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान्॥

ब्राह्मण को यदि वैश्यवृत्ति से आजीविका करनी पड़े तो वह रसयुक्त पदार्थ, पक्वान्न, तिल, पत्थर, नमक, पशु, मनुष्य, बने हुए वस्त्र, रंग, तीसी के छाल के बने हुए तथा ऊनी कपड़े यदि रँगे हुए न हों, फल, मूल, ओषधि, जल, हथियार, विष, मांस, सोमरस सुगन्धियां, दूध, दही, घी, तेल, मोम, मधु, गुड़ और कुश का क्रय-विक्रय न करे।

यह वर्णन जैन श्रावक के लिए निषिद्ध पन्द्रह कर्मादानों से मिलता जुलता है। जैन श्रावक के लिए भी रसवालेपदार्थ, विषैले-पदार्थ, यंत्र-शस्त्र आदि, दास-दासी, केश वाले जानवरों का व्यापार और अंगार कर्म, वनकर्म, शाटक कर्म, भाटक कर्म आदि व्यवसाय निषिद्ध बनाये गये हैं।

जैन और वैदिक गृहस्थ के लौकिक जीवन में बहुत कुछ साम्य होने पर भी उनमें पर्याप्त भेद है। वह भेद धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर है। जैनधर्म अहिंसा का अधिक प्रबलता के साथ पालन करने का आदेश करता है अतः जैन श्रावक के जीवन में

अहिंसा का पुट वैदिक गृहस्थ की अपेक्षा अधिक देखा जाता है। वैदिक गृहस्थ के लिए मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में मंत्रादि से संस्कृत मांस भक्षण करने का विधान पाया जाता है परन्तु यह जैनधर्म का प्रभाव है कि राजपूताना, मालवा, गुजरात आदि प्रदेशों में वैदिक गृहस्थ भी अब मांस भक्षण से लगभग उसी तरह घृणा करते हैं जैसे जैन श्रावक। यह जैन श्रावकों का वैदिक गृहस्थों पर अमिट प्रभाव पड़ा है। खानपान के सम्बन्ध में वैष्णव सम्प्रदाय पर जैन धर्म की गहरी छाप पड़ी है यह निस्संदेह है।

अन्नाहार के सम्बन्ध में अधिकांश में समानता होने पर भी प्याज, लहसन, आदि कन्दमूल के सम्बन्ध में भेद पाया जाता है। जैन श्रावक के लिए ये अभक्ष्य बताये गये हैं अतः जैन इनका उपयोग नहीं करते। वैदिक गृहस्थों में कन्दमूल का अधिक उपयोग किया जाता है। वैसे मनुस्मृति में भी द्विज के लिए प्याज, लहसन गाजर आदि खाने का निषेध किया गया है। जैसे कि कहा है—

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम्।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्विजः॥
(मनु. अ. ५ श्लोक १९)

अर्थात्– गोबर छत्ता, ग्राम्यशूकर, ग्राम कुक्कुट, लहसुन, प्याज, गाजर-ये जानबूझ कर खाने से द्विज पतित हो जाता है।

जैन और वैदिक गृहस्थ में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी है कि जैन गृहस्थ के लिए रात्रि भोजन वर्जित है जबकि अधिकांश वैदिक गृहस्थ रात्रि में सूर्यास्त के बाद भोजन करते हैं। अहिंसा के पालन के लिए रात्रि भोजन का त्याग आवश्यक है। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी सूर्यास्थ के बाद भोजन नहीं करना चाहिए। जैनों का रात्रि भोजन निषेध सूक्ष्म जीवों की अहिंसा की दृष्टि से है।

आजकल बहुत से जैन भी रात्रि भोजन करते हैं परन्तु यह उनका धर्म विरुद्ध आचरण है।

जैन और वैदिक गृहस्थों में जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण भेद है वह है- बाह्य शुद्धि। वैदिक गृहस्थों में बाह्य शौच को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है। समग्र वैदिक धर्म में बाह्य शुद्धि का माहात्म्य विशेष माना जाता है। जल और मिट्टी का शुद्धि के निमित्त विपुल मात्रा में उपयोग किया जाता है। जैन धर्म ने जल और मिट्टी में चैतन्य माना है। इनमें सूक्ष्म चेतना वाले असंख्य जीव हैं। अतः जैन श्रावक जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक मान-कर यथा सम्भव कम से कम जल और मिट्टी का उपयोग करता है। वह इनके उपयोग में पूरा २ विवेक रखता है, इनका अनर्गल उपयोग नहीं करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि श्रावक के लिए स्थान करने का या शरीर शुद्धि के लिए अन्य आवश्यक कार्यों का निषेध है। इसका अर्थ इतना ही है कि वह इनके प्रयोग में विवेक सहित मर्यादा करता है।

जैन श्रावक की अपेक्षा वैदिक गृहस्थ सूतक और छुआ-छूत का अधिक विचार रखते हैं। वैदिक गृहस्थों में अमुक का छुआ हुआ खाना और अमुक का छुआ हुआ न खाना आदि छुआ छूत की अधिक मात्रा है। हरिजनों (शूद्रों) को अस्पृश्य मानना उनसे घृणा करना आदि बातें वैदिक गृहस्थों में विशेष रूप से पाई जाती हैं। जैन धर्म में स्पृश्यता-अस्पृश्यता जैसा कोई प्रश्न ही मूलतः नहीं है। हां, वैदिक धर्म का असर जैन धर्म पर पड़ा है कि जैन लोग भी ब्राह्मणों की तरह शूद्रों को अस्पृश्य समझने लगे। भगवान् महावीर ने तो जातिवाद (वर्णवाद) के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन किया था। जैन धर्म मानव मात्र को ही नहीं पशुओं

नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति ही महावीर के संघ में सम्मिलित हो सकता था। महावीर के संघ में जाति पांति का, स्त्री पुरुष का या किसी वर्ग विशेप का वन्धन न था किन्तु आचार-विचार विपयक योग्यता का वन्धन अवश्य था। इसलिए उसमें ऐसे व्यक्ति ही प्रविष्ट हो सके जो वास्तविक रूप से आत्म कल्याण के अभिलापी और मुमुक्षु थे। भगवान् महावीर के धर्म शासन में न केवल साधु साध्वियों के लिए ही अपितु सामान्य श्रावक श्राविकाओं के लिए भी नियमोपनियम वनाये गये और उनके पालन की ओर पूरा २ ध्यान दिया गया है।

वुद्ध ने भिक्षु संघ के लिए तो अमुक नियमोप-नियम वनाये परन्तु श्रावकों या उपासकों के लिए खास नियमों की व्यवस्था [illegible]ी। उन्होंने अपने संघ में भिक्षुओं को ही मुख्य रूप से स्थान [illegible] और उपासकों का पारस्परिक अंकुश न होने से [illegible] का प्रवेश हो गया। भिक्षुओं के आचार [illegible] और परिणामतः वौद्ध संघ का भारत भूमि

नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति ही महावीर के संघ में सम्मिलित हो सकता था। महावीर के संघ में जाति पांति का, स्त्री पुरुष का या किसी वर्ग विशेष का वन्धन न था किन्तु आचार-विचार विषयक योग्यता का वन्धन अवश्य था। इसलिए उसमें ऐसे व्यक्ति ही प्रविष्ट हो सके जो वास्तविक रूप से आत्म कल्याण के अभिलाषी और मुमुक्षु थे। भगवान् महावीर के धर्म शासन में न केवल साधु साध्वियों के लिए ही अपितु सामान्य श्रावक श्राविकाओं के लिए भी नियमोपनियम वनाये गये और उनके पालन की ओर पूरा २ ध्यान दिया गया है।

वुद्ध ने भिक्षु संघ के लिए तो अमुक नियमोप-नियम वनाये परन्तु श्रावकों या उपासकों के लिए खास नियमों की व्यवस्था नहीं की। उन्होंने अपने संघ में भिक्षुओं को ही मुख्य रूप से स्थान दिया। भिक्षुओं और उपासकों का पारस्परिक अंकुश न होने से वौद्ध संघ में विकारों का प्रवेश हो गया। भिक्षुओं के आचार सर्वथा शिथिल हो गये और परिणामतः वौद्ध संघ का भारत भूमि में ह्रास हो गया।

वौद्ध संघ में जैन संघ की तरह उपासकों के (श्रावकों के) दृढ नियमोपनियम नहीं हैं तदापि वुद्ध ने उपासकों के कर्त्तव्य का निरूपण किया है वह जैन श्रावक के स्वरूप से मिलता जुलता है। सुत्तनिपात में धम्मिक उपासक ने भगवान् वुद्ध से पूछा-हे भगवान्! आप सब जानते हैं, अतः कृपा कर वतलाइये कि साधु और श्रावक कैसा होता है? अर्थात् उसके क्या लक्षण होते हैं?" इसके उत्तर में वुद्ध उसे दोनों का स्वरूप वताते हैं।

का कितना अधिक साम्य है ? बुद्ध कहते हैं कि पोषधोपवास करने के बाद प्रातःकाल अन्नजलादि के द्वारा भिक्षु संघ को प्रति लाभ देना चाहिए। भक्तिभाव पूर्वक त्यागमार्ग की अनुमोदना करते हुए भिक्षुओं के लिए यथायोग्य संविभाग करना बुद्धिमान् श्रावक का धर्म है। यही जैन श्रावक के अतिथि संविभाग व्रत का अभिप्राय है।

जैसे जैन धर्म में जड़ चेतन का, आत्म स्वरूप और पर स्वरूप का, सत्य धर्म और अधर्म का भेद ज्ञान हो जाना सम्यक्त्व कहा जाता है और यह सम्यक्त्व ही मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान समझा जाता है, इसी तरह बौद्ध धर्म में भी चार आर्य-सत्य को स्पष्ट रूप से जानलेना और उन पर दृढ श्रद्धा कर लेना धर्म और निर्वाण का प्रथम सोपान माना गया है। वे चार आर्य सत्य इस प्रकार हैं:-

(१) संसार दुःखमय है इस प्रकार दुःख का अस्तित्व जानना, प्रथम आर्य सत्य है।

(२) दुःख की उत्पत्ति का कोई न कोई कारण अवश्य है, यह द्वितीय आर्य सत्य है।

(३) दुःख का निराकरण किया जा सकता है, यह भी सत्य है।

(४) दुःख दूर करने के उपाय हैं, यह भी सत्य है।

ये चार आर्य-सत्य हैं। इस आर्य चतुष्टय सत्य को सम्यक् प्रकार से प्राप्त कर निर्वाण पद की अभिलाषा रखने वाले श्रावक 'सोतापन्न-श्रावक" कहे जाते हैं। दुःखों का निराकरण करने के लिए बुद्ध ने अष्टाङ्गमार्ग का निरूपण किया है। वह इस प्रकार है- (१) अपनी दृष्टि को निर्मल करो (२) अपने संकल्प को सत् करो (३) सच्ची बात बोलो (४) अपना व्यवहार साधु रखो (५) सद्